ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

वर्ष - 2020 **विक्रम सम्वत् - 2077** **अङ्क - 12**

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09350233885

सह-सम्पादक :-

डा० कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-

सतीश मेहता, सुनील कोहली,

कृष्णा झॉब, नीलम सूद, शकुन्तला आर्या

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

जी-150, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09350733444, 09555534381

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in

dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? ....

1.	कामनाएँ सफल हों	पृष्ठ-2
2.	सम्पादकीय	पृष्ठ-3
3.	वेदामृतम्	पृष्ठ-5
4.	आज हम किधर जा रहे हैं ?	पृष्ठ-17
5.	विन्रमता का फल	पृष्ठ-20
6.	हम भोजन कैसा करें ?	पृष्ठ-21
7.	राष्ट्रगीत वन्देमातरम् एक समीक्षा	पृष्ठ-22
8.	संस्कृत भाषा में प्रसिद्ध राष्ट्रीय....	पृष्ठ-24
9.	बालकों को सुसंस्कारवान् बनायें	पृष्ठ-25
10.	महर्षि दयानन्द द्वारा निर्देषित....	पृष्ठ-27
11.	वेदों में भक्ति का स्वरूप	पृष्ठ-32
12.	वेद का ज्ञान नित्य है	पृष्ठ-34
13.	विवाह की आवश्यकता	पृष्ठ-35
14.	गृहस्थाश्रम ज्येष्ठाश्रम क्यों ?	पृष्ठ-39
15.	दिव्य दयानन्द का दिव्य चिन्तन	पृष्ठ-40
16.	बच्चों के विकास में समझदारी..	पृष्ठ-45
17.	पागल-पथिक	पृष्ठ-47
18.	एक अध्यापक की डायरी	पृष्ठ-48

ओ३म्

कामनाएँ सफल हों

अ॒स्मे ता त॑ इन्द्र सन्तु स॒त्याऽहिं॑सन्तीरुप॒स्पृशः॑।
वि॒द्याम॒ यासा॒ं भुजो॑ धेनू॒नां न व॑ज्रिवः॥

(ऋ० 10/22/13)

[विमद ऐन्द्र प्राजापत्य ऋषि। इन्द्र देवता। विराड् बृहती छन्द। गान्धार स्वर]

हे शक्तिधाम ! ऐश्वर्यपुञ्ज अविनाशी,
कुछ सुनो टेर दुःखिया की घट-घटवासी।

युग बीत गये हैं अगणित वन्दन करते,
नित उन्मुख हो पथ देख अश्रु जल भरते।

क्या करुण टेर ने हृदय न प्रभु छू पाया,
फिर क्यों न आपका चित्त द्रवित हो आया।

हे नाथ ! न मैंने अहित किसी का चाहा,
रख दयाभाव जगती से प्रेम निबाहा।

फिर क्यों विरक्ति यह और किसलिये देरी,
अब करो कृपा कर पूर्ण कामना मेरी।

वे सत्य बनें शुभ भोग रूप फल लावें,
वे कामधेनु बन मधुर दुग्ध बरसावें॥

सम्पादकीय

वर्त्तमान समय में भारत में जो परिस्थितियां बन रही हैं, विदेशी ईसाई-मुस्लिम मिश्नरियां जिस प्रकार से भारत को विखण्डित करने का प्रयत्न कर रही हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में भारतीय संस्कृति वा वैदिकधर्म की रक्षा करना आसान कार्य नहीं है। धर्म के नाम पर ढ़ोंगियों द्वारा जनता की आस्था से जिस प्रकार खिलवाड़ हो रहा है, उसके अनेकों दुःखद परिणाम हमारे सामने आ रहे हैं। कहीं पर चेले-चेलियों के माध्यम से व्यभिचार-पापाचार का बोलवाला है तो कहीं काले धन को श्वेत बनाने के लिए धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न तरीके अपनाये जा रहे हैं।

ऐसे समय में भारतीय हिन्दू आर्यसंस्कृति की रक्षा करना आसान काम नहीं है। हिन्दू आर्यधर्म की रक्षा कौन करे ? यह प्रश्न हम सबके सामने मुंह खोलकर खड़ा है। आज से सात दशक पहले आज़ादी के लिये जितने बलिदान हमारे देश की युवा पीढ़ी ने दिये, उसका परिणाम कुछ नेताओं की हड़बड़ी के कारण यह हुआ कि हमारे देश को खण्डित आज़ादी मिली। उसके बाद भी गान्धी-नेहरू की नीति से जो कांटा हमारे देश में रह गया, आज वह हमें बेचैन कर रहा है। विदेशों से धर्मान्तरण के निमित्त जो धन आ रहा है, उससे धर्मान्तरण की दुकानें ग़रीबों की बस्तियों में चलाकर उन्हें हिन्दूधर्म से विमुख किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में हिन्दू आर्यधर्म की रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी हिन्दूसमाज के प्रति उदासीनता हमें पुनः गुलामी के बन्धन में न डाल दे। उसका सर्वप्रथम कारण है - **हिन्दुओं में जागृति का अभाव, असङ्गठित रहने की भावना तथा धार्मिक संरक्षण व ग़रीबों के उत्थान के लिए अनुदार की भावना।** आज हिन्दू मात्र हिन्दू-घर में जन्म लेने के कारण है, अन्यथा हमारे जीवन में हिन्दू मान्यताओं व हिन्दू धर्म के कोई संस्कार दिखाई नहीं देते। हिन्दुओं की जो संस्थायें धर्म के नाम पर खुली हुई हैं, उनमें पूजा-पाठ के कृत्य तो गौणिक हो गये हैं, पर प्रमुख वहां राजनीति ही राजनीति रह गई है। जो राजनीति धर्मस्थानों पर नहीं आनी चाहिये थी, आज धर्मस्थान राजनीति का अखाड़ा बन गये हैं। वहां के पदाधिकारियों वा सदस्यों को अपना वर्चस्व बचाने की चिन्ता है, न कि हिन्दू जाति के संरक्षण की।

ऐसे वातावरण में जिन सामाजिक दायित्वों को धर्मस्थान के पदाधिकारी सदस्यों द्वारा हिन्दू समाज के निमित्त अपनाना चाहिये, वह आज नहीं हो रहे। जो कुछ यत्र-तत्र कार्य दिखाई दे रहे हैं, वे वैयक्तिक शक्ति के द्वारा ही हो रहे हैं, सामूहिक शक्ति के द्वारा नहीं। भिन्न-भिन्न संस्थाओं की पूजा पद्धतियां पृथक् हो सकती हैं,

पर समाज व राष्ट्र के उत्तरदायित्वों को पृथक्-पृथक् नहीं बांटा जा सकता। आज उसमें भी राजनीति हो रही है। एक-दूसरे को नीचा दिखाने के कुटिल षडयन्त्र हो रहे हैं, अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने में उन पदाधिकारियों का सारा का सारा समय व्यतीत हो जाता है। उनके मस्तिष्क में हिन्दू समाज के सुधार की कोई योजना नहीं, उनके उत्थान का कोई कार्य नहीं, उन्हें संगठित करने का कोई विचार नहीं। जब हमारी धार्मिक संस्थाओं की स्थिति बद से बदतर हो रही हो, तो फिर हिन्दू समाज की चिन्ता कौन करे ? जबकि वैदेशिक शत्रुओं के षडयन्त्रों का मुकाबला करने के लिए सामूहिक-एकता की आवश्यकता है। जिन लोगों के मस्तिष्क में हिन्दूजाति के संगठन के निमित्त बेचैनी है, उनके पास न तो धन है और न उनके पास स्थान व संसाधन। अब वे साधनों के अभाव में मन मसोस कर रह जाते हैं, और जिनके पास साधन हैं, वे तिकड़मबाजी करके अपनी लोकेषणा के पोषण में संलग्न हैं। ऐसे वातावरण में सागर पर पुल बांधने के निमित्त गिलहरी के प्रयास की भांति कुछ लोगों का सामूहिक सङ्गठन जिसे **'धर्म संवर्द्धिनी सभा'** के नाम से जाना जाता है, वह अपने बल पर हिन्दू समाज को जाग्रत व संगठित करने के कार्य में संलग्न है।

सामाजिक कार्य में कुछ लोग अपने सहयोग की मौन होकर आहुति देने में संलग्न हैं तो कुछ ऐसे भी हैं जो व्यवधान उत्पन्न करके यह दिखाने को तत्पर हैं कि हम समाज के ठेकेदार हैं, तुमको हमारे क्षेत्र में आने की कोई आवश्यकता नहीं। पर **धर्म संवर्द्धिनी सभा** के अधिकांश कार्यकर्त्ता उनसे पृथक् रह कर कार्य करने में विश्वास करते हैं। कारण - जीवन में कुछ ही वर्ष मनुष्य सामाजिक सेवा कर सकता है, उन वर्षों को भी यदि वह लड़ाई- झगड़े में व्यतीत कर दे, तो फिर उसकी सेवा का उद्देश्य स्वयं ही समाप्त हो जाता है। यदि सेवा करने वाला उलझनों में ही फंसा रहेगा, तो निश्चित है कि सेवा उससे छूट जायेगी। इसलिये हमारी संस्था उन्हीं लोगों को अपने साथ जोड़ने का प्रयास करती है, जो मात्र सेवा में विश्वास करते हैं, पद-नाम- प्रतिष्ठा में नहीं। यहां सेवा को ही परमधर्म माना जाता है। हमारी संस्था में न पद है, न प्रतिष्ठा। न धन है और न धन के प्रति आसक्ति। मात्र इच्छा इतनी ही है कि सामाजिक कार्यों के निमित्त जो धन सहजता से प्राप्त हो जाय, उसमें अपने तन-मन-धन की आहुति और जोड़कर समाज सेवा में अर्पित कर देना, यही सभा के सदस्यों का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को लेकर हमारी सभा जितने भी प्रकल्प चला रही है, वे सब निःशुल्क चल रहे हैं। ऐलोपैथिक, होम्योपैथिक चिकित्सालय, महिला सिलाई केन्द्र, ग़रीब बच्चों के लिए कम्प्यूटर कक्षा तथा अनाथ बच्चों के लिए गुरुकुलीय शिक्षा के कार्य भी संस्था द्वारा चलाये जा रहे हैं।

यदि आपके मन में भी भावना है समाजसेवा करने की, अनाथ-ग़रीब बालकों के जीवन निर्माण की, दीन-हीन लोगों के उत्थान की, तो आप हमारी सभा के कार्यों से जुड़ें, और सेवा-कार्य कर, आनन्दानुभूति प्राप्त करें। ❐

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

स॒ꣳस्र॒वभा॑गा स्थे॒षा बृ॒हन्त॑: प्रस्त॒रे॒ष्ठाः प॑रि॒धेया॑श्च दे॒वाः। इ॒मां वाच॑म॒भि विश्वे॑ गृ॒णन्त॑ऽआ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्व॒ꣳ स्वाहा॒ वाट्॥ (यजुर्वेद 2/18)

(परमेष्ठी प्रजापतिः ऋषिः। विश्वेदेवाः देवता। स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः)

पदच्छेदः –

स॒म्। स्र॒व-भा॑गाः। स्थ॒। इ॒षा। बृ॒हन्त॑ः। प्र॒स्त॒रे॒ष्ठाः। प॒रि॒धेया॑ः। च॒। दे॒वाः। इ॒माम्। वाच॑म्। अ॒भि। विश्वे॑। गृणन्त॑ः। आ॒सद्य॑। अ॒स्मिन्। ब॒र्हिषि॑। मा॒द॒य॒ध्व॒म्। स्वाहा॑। वाट्॥

शब्दार्थः –

(सम्) सम्यक् प्रकार से **(स्रव-भागाः)** श्रेष्ठ गति वाले श्रेष्ठतम आराधक **(स्थ)** होओ **(इषा)** प्रेरक शक्तियों के द्वारा **(बृहन्तः)** महान् बनो **(प्रस्तरेष्ठाः = प्र+स्तृ+स्थ/प्रस्तर+स्थ)** श्रेष्ठ कर्मों में पत्थर की तरह दृढ़ बनो **(परि-धेयाः)** सब ओर से नियमानुसार चलने वाले बनो **(च)** और **(देवाः)** देवता बनो अर्थात् दिव्य कर्मों के करने वाले बनो **(इमाम्)** इस **(वाचम्)** वेदवाणी को **(अभि)** सब ओर से **(विश्वे)** आप सभी **(गृणन्तः)** प्राप्त करते हुए **(आसद्य)** स्थित होकर **(अस्मिन्)** इस **(बर्हिषि)** हृदय रूपी यज्ञशाला में **(मादयध्वम्)** आनन्दित होओ **(स्वाहा)** स्वार्थ त्याग के द्वारा **(वाट्)** अन्यों के लिए सुख देने वाले बनो।

भावार्थः –

हे संसार के मनुष्यो ! तुम अपने जीवन में उत्तम गति करते हुए परमात्मा के श्रेष्ठ आराधक बनकर, उससे प्रेरणा प्राप्त कर महान् बनो। श्रेष्ठ नियमों में पत्थर के समान दृढ़ होकर सदा नियमों में चलकर देव बनो, दिव्य भावना वाले बनो। वेदज्ञान को स्वाध्याय वा उपदेश से प्राप्त कर अपने सद्गुणों की वृद्धि द्वारा हृदय में आनन्द का अनुभव करो तथा अपने स्वार्थ को त्यागकर सदा दूसरों को सुख देने वाले बनो।

व्याख्या –

प्रस्तुत मन्त्र में मनुष्य को आनन्द प्राप्त करने के निमित्त कुछ नियमों के पालन करने की ओर संकेत दिया गया है। आओ मन्त्र के उन बिन्दुओं पर क्रमशः विचार करें –

(1) स॒ꣳस्र॒वभा॑गा स्थ –

इस मंत्राश में प्रथम शब्द **'सम्'**, द्वितीय शब्द **'स्रवभागा'** और तृतीय शब्द **'स्थ'** है। **'स्थ'** शब्द प्रेरणार्थक क्रिया है, जिसका अर्थ है – होओ या बनो। पर यहां प्रमुख शब्द **'स्रवभागा'** जिसको दो धातुओं के सम्मिलन से निर्मित किया गया है। प्रथम धातु है – **'स्रु गतौ'** और द्वितीय धातु है– **'भज सेवायाम्'।** जिसका अर्थ है – **गति करना** तथा **प्रभु का आराधक बनना।** इन दोनों धातुओं के शब्द से पूर्व **'सम्'** उपसर्ग का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है – **'सम्यक् प्रकार से'**। अब इन सभी शब्दों की सङ्गति कर, जब अर्थ किया जायेगा, तब अर्थ बनेगा – 'हे मनुष्यो ! तुम श्रेष्ठ गति वाले बनकर परमपिता परमात्मा की आराधना कर उसके सच्चे भक्त बनो।'

अब यहां विचारणीय बात है कि श्रेष्ठ आराधक बनने से पूर्व तुम्हारी गति श्रेष्ठ होनी चाहिये। **'गति'** शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है – **(क) ज्ञान (ख) गमन (ग) प्राप्ति।** गति का प्रथम उद्देश्य है – ज्ञान को प्राप्त करना। द्वितीय उद्देश्य है – चलना। तृतीय उद्देश्य है – प्राप्त करना। यदि इसमें एक अर्थ भी निकाल दिया जाय तो शायद गति शब्द की महत्ता अपने–आप न्यून हो जायेगी। क्योंकि यदि किसी मनुष्य ने गमन की क्रिया की है, तो सर्वप्रथम कर्त्ता को यह ध्यान करना चाहिये कि वह जिस उद्देश्य के लिए गति करना चाहता है, उसका उसे सम्यक् ज्ञान हो। बिना ज्ञान के गति करना मूर्खता होगी। जैसे आपने किसी मनुष्य से ट्रेन या बस में यात्रा करते हुए पूछा – 'भाई साहब ! आप कहां जा रहे हैं ?' आपके प्रश्न को सुनकर उसने सीधा–सा उत्तर दे दिया – 'पता नहीं'। तब आप उसके उस उत्तर को सुनकर उसे मूर्ख समझेंगे। वैसे ही जो मनुष्य इस श्रेष्ठ जीवन को प्राप्त कर, जीवन में अनेक प्रकार के कार्यों के निमित्त गति वा परिश्रम में संलग्न है, यदि उसको अपनी गति वा परिश्रम करने के उद्देश्य का ज्ञान न हो, तो वह मनुष्य मूर्ख है और उसका श्रम बालू में तेल निकालने के समान है।

दूसरी बात यह है कि किसी मनुष्य ने गति या कार्य ज्ञानपूर्वक किया, पर बिना लक्ष्य प्राप्त किये बीच में ही छोड़ दिया, तो फिर उसकी गति व कार्य का लाभ उसे प्राप्त नहीं होगा। तभी तो भर्तृहरि ने लिखा है –

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥

(नी0 श0 27)

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं – एक वह जो किसी संकट व भय के विघ्न आ जाने की कल्पना कर, कार्य का प्रारम्भ ही नहीं करते। दूसरे वह जो कार्य को प्रारम्भ तो कर लेते

हैं, पर किसी प्रकार के विघ्न आ जाने पर कार्य को बीच में ही छोड़ देते हैं। तीसरे वह हैं जो विघ्न-भय की चिन्ता न करके लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त निरन्तर चलते रहते हैं और लक्ष्य प्राप्त करके ही दम लेते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के मनुष्यों में तीसरी प्रवृत्ति वाले लोग **'उत्तम'**, दूसरी प्रवृत्ति वाले लोग **'मध्यम'** तथा प्रथम प्रवृत्ति वालों को **'अधम'** कहा जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य सद्ज्ञान को प्राप्त कर, सम्यक् गति करते हुए अर्थात् सम्यक् नियम और सम्यक् उद्देश्य के परिपालन में संलग्न रहकर लक्ष्य को प्राप्त करने के निमित्त श्रम करते रहते हैं, ऐसे मनुष्य अपने लक्ष्य का प्राप्त करने में अवश्य ही समर्थ होते हैं। इसलिये वेद भगवान् का संसार के मनुष्यों को **प्रथम सन्देश** यह है कि - **तुम श्रेष्ठ गति वाले होओ।** अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञान सम्पन्न होकर किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सम्यक् गमन करने वाले बनो और लक्ष्य प्राप्त करो।

अब **'स्त्रवभागा'** शब्द में जो 'भागा' शब्द है, वह **'भज् सेवायाम्'** धातु से बना है, जिसका अर्थ है - उत्तम आराधक बनना, उत्तम भक्त बनना, उत्तम सेवक बनना, अर्थात् परमात्मा की आज्ञा पालन करने वाला सच्चा पुत्र बनना। जिसके लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना के आठ मन्त्रों के तृतीय मन्त्र **'य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा'** के भावार्थ में स्पष्ट लिखा है - **"आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें।"**

यहां प्रश्न किया जा सकता है कि उत्तम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जब हमने गति वा ज्ञान प्राप्त कर लिया तो फिर परमात्मा का आराधक बनने की क्या आवश्यकता ? जब इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि - बिना परमात्मा के साहाय्य के न तो सम्यक् ज्ञान हो सकता है, न सम्यक् गति हो सकती है और न सम्यक् लक्ष्य ही प्राप्त किया जा सकता है। उसका प्रथम कारण है - जीवात्मा की अल्पज्ञता। अल्पज्ञता का अर्थ है - थोड़े ज्ञान वाला। याद रखो, जो मनुष्य स्वयं अल्प ज्ञान वाला है, जब उसका ज्ञान स्वयं ही अल्प होगा, तो उसका कार्य भी अल्पज्ञता से युक्त होगा, और उसका परिणाम यह होगा कि वह ज्ञानी होने के स्थान पर 'अहम्' को पोषित करेगा। उस स्थिति में अधकचरा ज्ञान उसके लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक न बनकर, उसकी अधोगति में सहायक बनेगा। इस बात का समझने के लिए आप राजा भर्तृहरि के उस अनुभव पर ध्यान दें, जिसको उन्होंने एक श्लोक में गुम्फित किया है -

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥
(नी० श० ८)

जब मैं थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त करने पर अपने को ज्ञानी समझने लगा, तब मैं मदमस्त हाथी के समान उस अल्पज्ञान के मद को पाकर यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करता था। पर जब मुझे साधु-सङ्गति के दिव्य प्रकाश से यह अनुभव

हुआ कि जिस अल्पज्ञान को तू गर्दभ की भांति ढोकर अपने को ज्ञानी समझता है, पगले ! यह तो मात्र ज्ञान का प्रतिविम्ब है, छाया है। ज्ञान का सागर तो तुझसे अभी बहुत दूर है। यदि तू परिश्रम-पुरुषार्थ से ज्ञान के सागर के समीप पहुंच भी गया, तो उस ज्ञान के सागर की अनन्तता और अपनी शक्ति की ससीमता को देखकर तुझे अनुभव होगा कि मैं अभी ज्ञान के सागर के समीप खड़े होने की योग्यता भी नहीं रखता। तब तेरा अभिमान स्वतः ही समाप्त हो जायेगा। याद रख, संसार जिनके ज्ञान के सामने नतमस्तक होता है, उन ज्ञानियों से भी जब पूर्णज्ञान के प्राप्त करने की चर्चा की जाती है, तो वे विनम्रता से हाथ जोड़कर यही कहते हैं कि – "मैं अभी ज्ञानी बना ही कहां हूं, अभी तो मैं ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न ही कर रहा हूं।" तब अनुभव होता है कि मैंने अभिमान के मद में अपनी ज़िन्दगी के अनेकों वर्ष व्यतीत कर दिये, समय व्यर्थ नष्ट कर दिया, पर मेरे हाथ अभी भी पूरी तरह से खाली हैं।

जब साधक सब कुछ करने के बाद भी अपने को असहायता की स्थिति में अनुभव करने लगता है, तब वह किसी ऐसे सहायक को ढूंढ़ने लगता है जो उसका सहारा बन सके और सम्यक् ज्ञान प्राप्त कराकर उसे लक्ष्य तक पहुंचा सके। तब उसे किसी अनन्त सत्ता की अनुभूति होने लगती है, जिसका प्रत्यक्ष आंखों से दर्शन तो नहीं किया जा सकता, पर उसके अवलम्बन के बिना रहा भी नहीं जा सकता। उस स्थिति में सब अवलम्बन छोटे लगने लगते हैं, सब भौतिक सहारे तुच्छ लगने लगते हैं; तब वह उस अदृश्य, अनन्त, सर्वशक्तिमान् सृष्टि के मालिक के सामने गिडगिडाकर विनम्र निवेदन करते हुए कहता है –

साथ ले लो पिता, आगे बढ़ जाऊंगा।
वरना सम्भव है, मैं भी फिसल जाऊंगा॥

तब उस अनन्त ऐश्वर्यशाली प्रभु का हाथ थामकर अपना सब कुछ उस पर छोड़ देता है। जैसे छोटा अबोध बालक मेले में खोने के डर से अपने पिता के हाथ को नहीं छोड़ता, वैसे ही सच्चा भक्त सेवक बनकर, पुत्र बनकर, आराधक बनकर, अपने पिता का दामन थामते हुए कहता है –

छोड़ दी तेरे भरोसे ही भंवर में नैय्या।
मूढ़ मांझी से विनय बार-बार कौन करे॥

मेरे पिता ! अब मैंने संसार के सब अवलम्बन छोड़ दिये हैं, मैंने अब तुम्हारा आश्रय प्राप्त कर लिया है, क्योंकि –

वेषि॑ रा॒यो वि या॑सि दु॒च्छुना॑॥

(ऋ० 6/13/1)

हे पिता ! तू हमें ऐश्वर्य देता है और दुःखों से दूर भी करता है।

हे पिता ! मैंने अनेकों विद्वानों से यह भी सुना है कि –

द॒दिर्हि वी॒रो गृ॑ण॒ते वसू॑नि॒॥

(ऋ० 4/24/1)

जो दानवीर इन्द्र की स्तुति करता है, तो वह इन्द्र अपने भक्त को समस्त सम्पदायें देता है। इसलिये कहा जाता है –

ऋ॒ध्यामा॑ त ओहैः॥

(ऋ० 4/10/1)

हे पिता ! तेरी प्रेरणाओं से हम सदैव वृद्धि को प्राप्त करें। क्योंकि –

विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः ॥ (ऋ0 1/36/4)

हे प्रभो ! जो आपको आत्म-समर्पण करता है, वह आपकी सहायता से समस्त ऐश्वर्य व ज्ञान को प्राप्त करता है।

तब वह भक्त अपने ज्ञान-बल व गति से किसी कार्य को पूर्ण नहीं करता, वरन् प्रभु प्रदत्त प्रज्ञामयी ज्ञान एवं बल से लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इसलिये वेद बार-बार कहता है – **"सुश्रंस्त्रवभागा स्थ"** 'हे संसार के मनुष्यो ! तुम सब सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, सम्यक् गति करते हुए अपने परमपिता परमात्मा के साहाय्य को प्राप्त कर, उत्तम लक्ष्य प्राप्त करने में सफल होओ।'

(2) इषा बृहन्तः –

इसका भाव है कि प्रेरक शक्तियों के द्वारा महान् बनो। प्रेरकशक्तियां दो प्रकार की होती हैं – **(क) बाह्य (ख) आन्तरिक।** बाह्य वह शक्ति है जो अपने सद्वचनों से हमें सदा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। ऐसे प्रेरक लोगों को हम सन्त, महात्मा व विद्वान् आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। जब मनुष्य किसी सन्त-महात्मा या विद्वान् के उपदेश को श्रवण करता है, तो उसकी बुद्धि में विवेक जाग्रत हो जाता है; अन्यथा जीवन में उसके भटकाव ही भटकाव दिखाई देता है। तभी तो महर्षि कपिल ने सांख्य शास्त्र में लिखा है –

उपदेश्योपदेष्ट्रत्वात् तत्सिद्धिः ॥

इतरथाऽन्ध परम्परा ॥

(सां0 द0 3/79, 81)

जब विद्वानों के उपदेश के अनुसार मनुष्य धर्ममार्ग का अनुसरण करता है, तब वह सिद्धि को प्राप्त करता है; अन्यथा अन्ध परम्पराओं में भटकने लगता है।

इसलिये आवश्यक है कि हम विद्वानों के उपदेश का श्रवण कर, धर्ममार्ग का अनुसरण करें। यदि जीवन में किसी सद्विद्वान् का दर्शन हो, उनके निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त हो, तो उन विद्वानों द्वारा सत्कर्मों के प्रति जीवन में किया जाने वाले आचरण का अनुसरण भी हमें धर्ममार्ग पर चलने में सहायक बनेगा। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गी0 3/21)

भगवान् श्रीकृष्ण जी की दृष्टि में महान् पुरुषों का आचरण एक प्रकार से सत्कर्मों का प्रमाण है। इसीलिये मनुष्य जीवन में यदि महान् बनने की इच्छा है तो जो आप से पूर्व विद्वान् सन्तजन महानता के कर्म करते हुए महान् बन चुके हैं, यदि तुम उनके मार्ग अनुसरण करोगे तो तुम अवश्य ही महान् बन सकते हो।

हम सबने वर्तमान में जो प्रभु-कृपा से मनुष्य जन्म प्राप्त किया है, वह महान् बनने के लिए, अपने को ऊंचा उठाने के लिए, देव तथा ऋषि बनने के लिए। इसलिये वेद भगवान् उद्घोषणा करते हुए संसार के मनुष्यों को बार-बार कह रहे हैं –

उ॒द्यानं॑ ते पुरुष ना॒व॒यान॑ं ॥

(अथर्व0 8/1/6)

हे मनुष्य ! तू ऊपर को उठ, महानता की ओर प्रगति कर। ध्यान रख, तुझे ये जीवन उन्नति करने के लिए मिला है, अवनति के लिए नहीं। कारण – उन्नति मनुष्य जन्म में ही की जा सकती है, अन्य जन्मों में नहीं। अन्य जन्मों में मात्र भोगों को भोगा जाता है, पर मनुष्य जन्म में पूर्वकृत कर्मों के भोगों को भोगने के साथ-साथ नवीन कर्म करने के लिए भी हमें अवसर मिला है। हम उस अवसर का उपयोग करें तो अवश्य ही अनुभव होगा कि तेरे जैसे मनुष्य शरीर को प्राप्त करने वाले कितने लोग महान् बन गये। तू भी उन महापुरुषों के कार्य का अनुसरण कर और अपने को महान् बना।

महान् बनने का दूसरा साधन है – आन्तरिक। आन्तरिक साधनों में हमारे पर दो शक्तियां हैं – **(क) आत्मा (2) परमात्मा।** मनुष्य प्रायः जितने भी कार्य करता है, उसमें मन और बुद्धि का उपयोग तो वह कर लेता है, पर उस कर्म में आत्मा की अनुकूलता है या नहीं, इसका किञ्चित् भी चिन्तन नहीं करता। इसीलिये वह कर्म करते हुए भी अकर्म कर बैठता है। कर्म वह सत्कर्म होगा, जिसमें आत्मा की अनुकूलता भी हो। याद रखो, आत्मा के पास एक और शक्ति है, जिसे हम परमात्मा कहते हैं। वह परमात्मा हमारी आत्मा का अनादिकाल से मित्र, सखा, पिता, माता, भ्राता या सब कुछ है। आत्मा-परमात्मा की इतनी सन्निकटता है कि आत्मा, परमात्मा को नहीं छोड़ सकता और परमात्मा, आत्मा को। पर इतनी सन्निकटता होने पर भी विडम्बना यह है कि हमारा आत्मा, परमात्मा की ओर किञ्चित् भी देखता नहीं। जबकि परमात्मा, आत्मा के कल्याण के लिए ही पिता, बन्धु, भ्राता बनकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए निरन्तर इस आत्मा की रक्षा में तत्पर है। परन्तु यह आत्मा प्रकृति के भोगों को भोगने में इतना अधिक निमग्न है कि उस अनादिकाल के रक्षक पिता परमात्मा की ओर मुंह ही नहीं कर रहा। इस बात को वेद में इस प्रकार से कहा है –

द्वा सु॑प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते। तयो॑र॒न्यः पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्त्यन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति ॥

(अथर्व0 8/9/20)

एक वृक्ष पर दो मित्र बैठे हैं। एक फल को खाने में निमग्न है और दूसरा मात्र दृष्टा बनकर उसको प्रेममयी दृष्टि से इस भाव से देख रहा है कि मेरे पास इस प्रकृति के फल से भी अधिक आनन्ददायक जो अमृत है, मैं अपने मित्र को उसका आस्वादन करा दूं। परन्तु आत्मारूपी मित्र प्रकृति के फलों का खाने में इतना मस्त है कि वह हीरे-मोती को छोड़कर पत्थरों के टुकड़ों का चयन कर रहा है।

याद रखो, जिन लोगों ने जीवन में वास्तविक महानता प्राप्त ही है, उन्होंने मात्र बुद्धि का उपयोग करके ही सफलता के सोपानों को तय नहीं किया, वरन् उन्होंने आत्मा की आवाज़ को प्रथम प्राथमिकता दी है। आत्मा की आवाज़ मात्र आत्मा की ही नहीं है, वह तो सांसारिक

भोगों का आस्वादन लेने में रत है। पर आत्मा के समीप जो परमात्मा विद्यमान है, वह आत्मा को कर्म करते समय, उसको कुछ प्रेरणायें देता है। यदि आत्मा किसी श्रेष्ठ कार्य में अपनी इन्द्रियों को आदेश देने जा रही है, तो वह परमात्मा अपनी सहमति देते हुए उस कार्य में **हर्ष, प्रसन्नता, उत्साह** आदि भावों को उत्पन्न कर देता है। यदि इसके विपरीत आत्मा किसी दुष्कार्य को करने की आज्ञा अपनी इन्द्रियों को देने जा रही हो तो वह परमात्मा उसे सावधान करता है, उस आत्मा में **भय, शङ्का, लज्जा, अनुत्साह** आदि भावों को उत्पन्न कर, उस आत्मा को चेतावनी देता है। जो मनुष्य अन्तःकरण में व्यापे हुए परमात्मा की आवाज़ को सुनकर कार्य करता है, वह कार्य सर्वश्रेष्ठ होता है, उसी से मनुष्य महान् कहलाता है। और जो उसको अनसुना कर देता है, वह पतित तथा पथभ्रष्ट हो जाता है। इसलिये वेद कहता है – **"इ॒षा बृ॒हन्तः"** तुम प्रेरक शक्तियों की आवाज़ सुनो और उसके अनुसार आचरण करके महान् बनो। वह शक्तियां दो हैं – **परमात्मा** और **विद्वान्**। एक अन्दर का प्रहरी है तो दूसरा बाहर का। ये दोनों प्रहरी समय-समय पर चेतावनी देकर हमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। यदि हम इन दोनों शक्तियों के अनुसार अपने जीवन को चलाने का प्रयत्न करें, तो संसार की कोई भी शक्ति हमें महान् बनने से नहीं रोक सकती। पर यहां एक बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है, जिसको मन्त्र के अगले पद में कहा गया है –

(3) प्रस्त॒रेष्ठाः प॑रि॒धेया॑श्च दे॒वाः –

इसका भाव है कि – हे मनुष्यो ! तुम अपने जीवन में सुदृढ़ नियमों में आबद्ध रहते हुए दिव्य गुणों को धारण कर, **देव** बनो। जबकि इसी मन्त्र के पूर्व भाग में महान् बनने का सन्देश निहित था। जैसे महानता का सद्गुण जीवन में आगे बढ़ने के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार उस महानता से देवत्त्व की स्थिति को प्राप्त करना भी परमावश्यक है। महानता और देवत्त्व, इन दोनों शब्दों में बहुत थोड़ा-सा अन्तर है; वह यह कि – महानता सम्यक् जीवन जीने का सिद्धान्त है तो देवत्त्व उसका लक्ष्य है। महानता स्व-जीवन को समुन्नत करती है, जबकि देवत्त्व स्व-जीवन के साथ-साथ अन्य मनुष्यों के जीवन को भी समुन्नत करता है। इसलिये यदि यह कह दिया जाय कि महानता मानव जीवन की समुन्नति का प्रथम सोपान है और देवत्त्व अन्तिम सोपान, तो शायद इसमें अतिश्योक्ति न होगी। देवत्त्व के बाद तो सिर्फ मुक्ति ही शेष है। शायद इसीलिये महर्षि बौधायन ने अपने गृह्यसूत्र में जिन सोपानों की चर्चा की है, उन पर भी हमें गम्भीरता से विचार कर लेना आवश्यक है। महर्षि बौधायन जी लिखते हैं –

ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्राग् उपनयनाज्जात इत्यभिधीयते ॥

ब्राह्मण पुरुष व ब्राह्मण स्त्री से ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ बालक की यज्ञोपवीत से पूर्व **'जात'** कहलाता है।

उपनीतमानो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः ॥

यज्ञोपवीतधारी बालक जब कुछ व्रतों का पालन करते-करते कुछ वेद का अध्ययन करना प्रारम्भ करता है, तब उसको **'ब्राह्मण'** कहा जाता है।

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥

वेद की किसी एक शाखा के पढ़नेवाले को **'श्रोत्रिय'** कहा जाता है।

अङ्गान्यधीत्यानूचानः ॥

वेदों और उसके समस्त अङ्गों को पढ़ने के पश्चात् उस ब्रह्मचारी की **'अनूचान'** संज्ञा होती है।

कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥

वेद के प्रयोगात्मक शास्त्र, जिसे कल्प उपाङ्ग के नाम से जाना जाता है, उस विद्या के जानने वाले ब्रह्मचारी की **'ऋषिकल्प'** संज्ञा होती है।

चतुर्वेदात् ऋषिः ॥

जब ब्रह्मचारी चारों वेदों का ज्ञाता बन जाता है, तब उसको **'ऋषि'** कहते हैं।

अत ऊर्ध्वं देवः ॥

इससे आगे की उच्च-स्थिति का नाम **'देव'** है।

इन समस्त सूत्रों से एक बात निष्कर्ष के रूप में यह कही जा सकती है कि वेद का विद्वान् भी जन-सामान्य में महान् कहला सकता है, वेदाङ्गों का अध्येता भी महान् कहला सकता है, पर जो सबसे कठिन है, वह है - **ऋषि** और **देव** बनना। ऋषि जहां चारों वेदों का ज्ञाता होने के कारण ऋषित्त्व की पदवी को प्राप्त करता है, वहां **'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूव'** जो परमात्मा का साक्षात् करने की योग्यता रखता है, वह ऋषि है। पर जब ऋषि स्वयं समाधि के आनन्द में निमग्न न रहकर, अपने जीवन को जन-कल्याण में आहूत कर देता है, तब वह **'देव'** बनता है। इसलिये शास्त्रकारों ने **'देव'** शब्द की परिभाषा को अभिव्यक्त करते हुए स्पष्ट कहा है -

"देवो दानाद्वा दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।"

अर्थात् - देव वह है जो अपना सर्वस्व अर्पण करता है, जिसका स्वयं का जीवन पूर्णतः प्रकाशित होता है तथा वह अन्यों के जीवन को भी प्रकाशित करता है; और जो द्युस्थानीय अर्थात् जो सबके हृदय रूपी मन्दिर में उच्च स्थान पर आसीन होता, पूजनीय होता है।

इसलिये इस मन्त्र के पूर्व पद में जहां मनुष्य को महान् बनने का सन्देश दिया था, वहां दिव्यगुणों को धारण करते हुए देव बनने का भी वेद ने आदेश दिया है। इसलिये कहा है -

यजा॑ दे॒वाँ ऋ॒तं बृ॒हत् ॥

(ऋ० 1/75/5)

हे मनुष्य ! तू देवों का सङ्ग करके सदा सत्य का अनुष्ठान करता हुआ तू भी देव बन।

पर इस आदेश के साथ जिन दो शब्दों को संयुक्त किया है, उनमें प्रथम शब्द है - **परिधेयाः**। परिधेयाः का अर्थ है - **नियमों में चलना** या **व्रतों में चलना**। दूसरा शब्द है - **प्रस्तरेष्ठाः**। प्रस्तरेष्ठा का अर्थ है - **पत्थर की तरह से अड़िग रहना, दृढ़ रहना,** अर्थात् **विचिलित न होना**। अब इन दोनों शब्दों पर

विचार करें तो जैसे महान् बनने के लिए श्रेष्ठकर्म और आन्तरिक अनुभूति का संयोग परमावश्यक है, उसी प्रकार आन्तरिक अनुभूति और कर्मों की श्रेष्ठता के साथ देवत्त्व के भाव को और अधिक प्रबलता के साथ संयुक्त करना, यह भी परमावश्यक है। प्रथम पद में स्व-कल्याण की भावना निहित थी तो अब इस कल्याणमयी भावना को इतना अधिक विस्तृत कर दिया जाये कि वह स्व-कल्याण, पर-कल्याण में परिवर्तित हो जाय। उसके लिए नियमें में दृढ़ता तथा विश्व कल्याण की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है।

आपने अनुभव किया होगा कि हम सब अपने जीवन में जिन-जिन नियमों का अनुसरण करते हैं, उसका हमें सुखद फल अवश्य ही प्राप्त होता है। ऐसा अभ्यास एक-दो दिन नहीं, वरन् हमने वर्षों तक किया होता है। पर कुछ परिस्थितियां हमारी विषम हुई तो हमारे पग डगमगा जाते हैं, नियम शिथिल हो जाते हैं, और एक समय ऐसा भी आता है कि हम उन कल्याणकारी नियमों पर आचरण करना ही बन्द कर देते हैं। ऐसी स्थिति में यदि हमसे कोई व्यक्ति पूछें कि - 'आपने जो यज्ञ-स्वाध्याय-ध्यान का व्रत लिया था, क्या आजकल उसका आप पालन कर रहे हैं ?' तो उस समय हम यही कह देते हैं कि - 'मैं अब तो नहीं कर पा रहा, पर मैंने वर्षों तक उन नियमों पर अपने जीवन को चलाया है।' ऐसे व्यक्ति से आप पुनः प्रश्न करें कि - 'जब आप इनको अच्छा मानते हैं तो आपने इन सब व्रतों को क्यों छोड़ दिया ?' तो हम कहेंगे कि - 'मेरी कुछ परिस्थितियां ऐसी विषम बन गई थीं कि मैं अपने उन व्रतों को निरन्तर जारी न रख सका।'

अब यहां आपने देखा कि यज्ञ-स्वाध्याय-ध्यान जैसे कार्य महान् बनने के प्रमुख कारण हैं; जैसे उस व्यक्ति ने उन व्रतों से लाभ भी प्राप्त किया, पर परिस्थिति की बात कहकर आज वह उन नियमों का अनुसरण नहीं करता, ऐसा देवत्त्व के मार्ग पर चलने वाला मनुष्य नहीं कर सकता। उसके लिए स्थिति-परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, पर वह दृढ़ता से उन व्रतों-नियमों का पालन करता हुआ दिव्यता के गुणों का जीवन में आधान कर, देव बनने के मार्ग पर चलता ही रहता है, तभी वह देवत्त्व के पद को प्राप्त करता है। यदि उसके नियमों में दृढ़ता अडिगता न होती तो वह समाज में कभी भी सम्माननीय व पूजनीय नहीं बन सकता था। तभी तो वेद भगवान् संसार के सब मनुष्यों को स्पष्टतः सन्देश देते हैं -

व्र॒तेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम्।
दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते॥

(यजु0 19/30)

जो मनुष्य अपने जीवन को सुदृढ़ नियमों में आबद्ध कर लेता है, वह एक दिन दीक्षित होकर दीक्षा को प्राप्त करता है। दीक्षा प्राप्त करने वाला मनुष्य दक्षतापूर्वक कार्य करता हुआ समस्त ऐश्वर्य-विभूतियों से सम्पन्न हो जाता है। उसके जीवन की दक्षता और ऐश्वर्य की वृद्धि उसके हृदय में श्रद्धा के अतिरेक-भाव को उत्पन्न करती है और वह मनुष्य श्रद्धामयी सोपान पर

चढ़कर वह सत्यस्वरूप परम-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

जब वेद स्पष्टतः दृढ़ नियमों में आबद्ध रहने के लाभ बतला रहा है तो फिर प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह दृढ़ता से नियमों का अनुसरण करना सीखे। व्रतों के पालन में आपत्तियां-विपत्तियां आयेंगी, पर जब वह हर परिस्थिति में हिमालय की तरह दृढ़ व अटल रहेगा तो वह विपत्तियां स्वयं हताश होकर वापिस लौट जायेंगी या सर्वनाश को प्राप्त हो जायेंगी। ऐसा मनुष्य ही अपने जीवन को दिव्यगुणों से पूर्ण कर देवत्त्व की स्थिति को प्राप्त करेगा। इसलिये वेद कहता है कि **"प्रस्तरेष्ठाः परिधेयांश्च देवाः"** हे मनुष्यो ! तुम नियमों के पालन में पत्थर की तरह दृढ़ बनकर आगे बढ़ते हुए दिव्यगुणों का आधान जीवन में करते रहो। ऐसा करने से तुम अवश्य ही **देव** बन सकते हो। पर उसके लिये आवश्यक है -

(4) इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तः -

अर्थात् - हम सब ओर से वेदज्ञान को प्राप्त करें। क्योंकि वेद परमात्मा की वाणी है, उससे अधिक श्रेष्ठ वाणी और कौन हो सकती है ? वेद ज्ञान का भण्डार हैं, ज्ञान की पुस्तक हैं। जब इस सृष्टि की आदि में मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ तो परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा नामक चार ऋषियों के माध्यम से संसार के समस्त मनुष्यों के कल्याणार्थ परमात्मा ने ऋक्-यजु-साम और अथर्व के रूप में वेदज्ञान दिया। वह ज्ञान परमात्मा ने मनुष्यों को संविधान के रूप में दिया है। जैसे लोक में समाज को व्यवस्थित करने के लिए हर राष्ट्र का एक निर्धारित संविधान होता है, उसी प्रकार संसार के मनुष्यों के लिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध कराने के निमित्त परमात्मा ने हमें वेद ज्ञान दिया। वेद ज्ञान से जहां हमें संसार में जीने की पद्धति का दर्शन होता है, वहां हमारा संसार में आने का उद्देश्य क्या है, इसका भी दिग्दर्शन होता है। खाना-पीना, सोना-डरना आदि स्वाभाविक कार्यों से पृथक् परमात्मा की शरण प्राप्त करना, यह भी मनुष्य जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। उस उद्देश्य को प्राप्त करने का सम्यक् ज्ञान हमें वेद से प्राप्त होता है। इसीलिये महर्षि दयानन्द जी कुछ सूत्र निम्न प्रकार से लिखते हैं -

"वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।"

क्योंकि -

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"

पर याद रखना -

"सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उनका आदिमूल परमेश्वर है।"

पर उस परमेश्वर का स्वरूप कैसा है ? इस सम्बन्ध में महर्षि लिखते हैं -

"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्व-शक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य

पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है।"

कारण कि - हम जिसके पास रहेंगे, उसका प्रभाव हम पर अवश्य पड़ेगा। परमेश्वर ज्ञान व आनन्द का भण्डार है। उसका ज्ञान परिपूर्ण है, आनन्द असीम है, इसलिये यदि उसके आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा है तो सबसे प्रथम वेदज्ञान को हम सब ओर से प्राप्त करें। जब ऐसा करने में हम समर्थ हो जायेंगे तो फिर -

(5) आ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्व॒म् -

उस ज्ञान में स्थित रहकर अर्थात् ज्ञान का अर्जन करते हुए, परमपिता के आदेश और उपदेश को समझते हुए सर्वप्रथम हम अपने हृदय को आनन्द से भरने का प्रयत्न करें। आनन्द वह अवस्था है जिसमें जरा-मृत्यृ-दुःख-संताप सब समाप्त हो जाते हैं, पर उस आनन्द की अनुभूति मनुष्य सर्वप्रथम अपने हृदय में कर सकता है। क्योंकि आनन्द प्रकृति का विषय नहीं है। आनन्द परमात्मा के पास है। परमात्मा वैसे तो सर्वव्यापक है, पर इसको प्राप्त करनेवाला आत्मा सर्वव्यापक नहीं है। परमात्मा संसार के कण-कण में विद्यमान है, पर हमारा आत्मा नहीं। अब यदि परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा है, तो फिर ऐसा स्थान ढूंढ़ना होगा, जहां देनेवाला भी हो और प्राप्त करने वाला भी हो। वह स्थान है -

'अत्य॑तिष्ठत् दशाङ्गुलम् ॥

(यजु0 31/1)

हमारा हृदय मन्दिर; जहां आत्मा भी है और परमात्मा भी है।

इसी बात को कठोपनिषद् में निम्न प्रकार कहा है -

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत् ॥ (कठो0 4/12)

अर्थात् - आत्मा के मध्य में परमात्मा स्थित है। कैसे ? **'अङ्गुष्ठमात्र'** अर्थात् अंगूठे की तरह। जैसे मुट्ठी में अंगूठा चारों ओर से घिरा रहता है, वैसे ही परमात्मा मध्य में विद्यमान है। जैसे बालक अपने पिता की अंगुली को पकड़कर समझता है कि मैंने पिता को पूरी तरह से पकड़ लिया, ऐसे ही स्थिति साधक की होती है। जबकि वह परमात्मा भूत-भविष्यत् का स्वामी है। उसे जानकर मनुष्य जिज्ञासा सदैव नवीन बनी रहती है, ऐसा वह ब्रह्म है।

ऐसी स्थिति में जब साधक वेद ज्ञान की सम्यक् प्राप्ति के द्वारा अपनी चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर लेता है, तब वह अपने जीवन के प्रत्येक कार्य को यज्ञमय बनाने लगता है। तब परमात्मा अपने भक्त पर कृपा करता हुआ आनन्द की वृष्टि करता है। जिस आनन्द को प्राप्त करने के लिए जीवात्मा अनन्त काल से अनेकों जन्मों को प्राप्त करता हुआ भटक रहा था, उसे इस हृदयरूपी यज्ञशाला में अपने पिता का साक्षात्कार हो जाता है। तब उसके मुख पर शान्ति व सन्तुष्टि की आभा झलकने लगती है। जैसे प्यासे व्यक्ति को पानी मिल जाये वा भूखे को भोजन मिल जाये, तब वह तृप्ति व शान्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार वेदज्ञान का सब ओर प्राप्त करने वाला साधक जब साधना में निमग्न होकर

परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे आनन्द की अनुभूति होने लगती है, जिसे शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। पर –

स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

(मैत्राण्यनु. 4/4/9)

वह उस आनन्द की अनुभूति करने लगता है। क्योंकि –

रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥

(तैत्तिरीय उप0, ब्रह्मा0 7/1)

परमेश्वर आनन्द स्वरूप है, उसके सानिध्य से जीवात्मा को भी आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

इसलिये वेद कहता है कि – ऐ संसार के लोगो ! तुम भी वेद ज्ञान को सब ओर से प्राप्त कर, हृदय रूपी यज्ञशाला में अपने पिता का साक्षात्कार कर आनन्दित होओ। पर एक बात पर अवश्य ध्यान देना, वह यह कि –

(6) स्वाहा वाट् –

उस आनन्द की प्राप्ति की अनुभूति को अपने तक सीमित मत रखना, बल्कि संसार के अन्य मनुष्यों को भी उस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना, उनका पथ-प्रदर्शक बनना। जैसे किसी पथिक को पथ बताने वाला मनुष्य उसका सहायक बनकर उसको गन्तव्य तक आसानी से पहुंचा देता है, उसी प्रकार तुम भी अन्य मनुष्यों के मार्ग को प्रशस्त करो। परमात्मा आपका कल्याण अवश्य ही करेंगे।

इसलिये महर्षि दयानन्द जी सरस्वती जी **'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका'** के वेदोक्त-धर्म प्रकरण में लिखते हैं कि परमात्मा कहता है –

"हे मनुष्य लोगो ! जो मनुष्य सबका उपकार करने और सुख देने वाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं। अर्थात् उनके लिए आशीर्वाद देता हूं।"

ऐसे दयालु-कृपालु सर्व-आनन्ददाता परमेश्वर को संसार में आकर यदि आपने जान लिया तो समझ लो आपका मनुष्य जन्म प्राप्त करना सार्थक हो गया। यदि ऐसा नहीं कर पाये तो सिवाय इस जीवन को व्यर्थ नष्ट करने के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस बात को उपषित्कार ने इस प्रकार कहा है –

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिकावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(केनो0 2/5)

अर्थात् – अगर तूने इस जन्म में उस ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है; अन्यथा महानाश है। धीर-बुद्धिमान् लोग संसार के एक-एक जड़-चेतन पदार्थ पर चिन्तन करके इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि **आनन्द का मूल ब्रह्म ही है।** उसी को जानकर बुद्धिमान् लोग मृत्यु सागर को पार कर, अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ कर्मों द्वारा महानता को प्राप्त कर, सुदृढ़ नियमों के पालन से देवत्त्व को प्राप्त कर, ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करो; पर उस आनन्द का स्वयं ही उपभोग न कर, संसार के अन्य मनुष्यों को भी उसके लिए प्रेरित करो, यही मानवधर्म है। यदि तुम ऐसा करोगे तो निश्चित ही तुम्हें परमानन्द की प्राप्ति होगी। ❑

आज हम किधर जा रहे हैं ?

तारा शर्मा
प्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा (दिल्ली)

आज से लगभग तीन-चार दशक पुरानी बात है कि हमारी शिक्षा-पद्धति में उन चीज़ों का समावेश था, जो हमारे जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक थीं। पर उसके बाद हम जैसे-जैसे पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में भौतिकवाद का दामन थाम कर आगे बढ़ते चले गये, वैसे-वैसे हमारे जीवन में उन शाश्वत मूल्यों का ह्रास होता गया, जिनकी जीवन में बहुत आवश्यकता थी। वह समय था कि जब हम और हमारे साथी अंग्रेजी-गणित जैसे विषयों के पढ़ने के साथ-साथ संस्कृत और हिन्दी भाषा को अनिवार्य रूप से पढ़ते थे। उसका परिणाम था कि हम भास, कालिदास, बाल्मीकि, तुलसी, सूर, कबीर, मीरा जैसे महाकवियों की कविताओं को पढ़कर उन्हें याद करते थे। शायद उस समय हमें उन कविताओं-दोहों का महत्त्व पता नहीं होता था, पर जैसे-जैसे हमारी बढ़ती उम्र के साथ-साथ समझ (बुद्धि) भी बढ़ती चली जाती थी, उन महाकवियों के उपदेश व सन्देश समझ आने लगते थे। उस समय में जब बच्चों का कक्षा में पढ़ाई का मूड नहीं होता था तो अध्यापकों की देखरेख में एक अन्त्याक्षरी करा दी जाती थी। शनिवार के दिन कक्षा में आधे दिन पढ़ाई होती थी और आधे समय में बालकों को कविता, कहानी या अन्य कोई चीज़ सुनाने के लिए **बाल-सभा** होती थी। उसका परिणाम यह होता था कि बच्चों को महापुरुषों के जीवन, कुछ श्रेष्ठ कहानियां, अनेकों चौपाई, दोहे, पद या शबद याद हो जाते थे। ऐसा कार्य कभी-कभी हम रात्रि के सोने से पूर्व अपने परिवारों में भी कर लेते थे। पर वर्त्तमान में सब कुछ उलटा-पुलटा हो गया है। आज बच्चे किसी परिजन के पास बैठने को तैयार नहीं है। उनके हाथ में स्मार्टफोन अथवा कम्प्यूटर है। वही उनका साथी है, वही उनका पिता है और वही उनकी माता। जन्म देने वाले माता-पिता तो उनके लिए मात्र इसलिये हैं कि अपने जीवन के लिए उनसे उन्होंने रुपये लेने हैं, शेष वह अपनी मर्जी से कार्य करते हैं। पहले का समय था कि जब माता-पिता वा गुरुजन जैसा कहते थे, बच्चे वैसा करने को तैयार रहते थे, आज के समय में जैसा बच्चे कहते हैं, माता-पिता-गुरुजन वैसा करने को तैयार रहते हैं। आज अंग्रेजियत हमारे सिर पर चढ़कर बोल रही है। आधुनिकता की दौड़ में माता-पिता को भी प्रतीत होता है कि आधुनिक सुखमय जीवन जीने के लिए अंग्रेजी और अंग्रेजियत की अत्यन्त आवश्यकता है। यह ठीक भी है, क्योंकि वर्त्तमान समय की परिस्थिति का प्रभाव किस पर नहीं पड़ता ? कौन नहीं चाहता कि मुझे सुख-सुविधायें न मिलें ? धन को प्राप्त करने की

किसकी तमन्ना नहीं होती? कोठी, मकान, बंगला, कार प्राप्त करने की किसकी इच्छा नहीं होती। पर इन सबके पीछे अपने महापुरुषों के जीवन को रद्दी की टोकरी में डालकर अपनी संस्कृति, संस्कार व अपने कर्त्तव्य को भुला देना, क्या इसको अच्छा कहा जायगा ? यदि नहीं, तो फिर आवश्यक है कि हमारे पाठ्यक्रम में, हमारे घरों में आधुनिक विषयों के साथ-साथ भारतीय संस्कृति से जुड़े हुए भी विषय सम्मिलित हों, जिनका उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना हो।

आज हमारे देश में शिक्षा विभागों में वो लोग बैठे हैं, जो काले-अंग्रेज हैं और भारतीय संस्कृति के दुश्मन हैं। उनके द्वारा निर्धारित शिक्षा की पद्धति यदि हमें अपनी संस्कृति-सभ्यता से दूर न करेगी तो और क्या करेगी ? लार्ड मैकाले ने जिस योजना को अंग्रेजी शासन में यह मानकर लागू किया था कि दो सौ-तीन सौ वर्षों के बाद इस देश में अंग्रेजियत व ईसाईयत का प्रभाव बढ़ जायेगा और इस देश के लोग अपनी संस्कृति की अपेक्षा हमारी संस्कृति से प्यार करने लगेंगे, उसकी अपसंस्कृति की योजना का प्रभाव उसके सामने ही शीघ्रता से साथ इतना बढ़ा कि उस काल में ही भारतीय लोग अपनी संस्कृति को छोड़कर अंग्रेजी संस्कृति को अपनाकर गौरवान्वित महसूस करने लगे। जब लार्ड मैकाले को अपनी योजना की सफलता का पता चला, तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई जिसका वर्णन उसने अपने चाचा को पत्र द्वारा दिया था। लार्ड मैकाले की योजना का आज भी परिणाम है कि भारतीय क्रान्तिकारियों के स्वतन्त्रता आन्दोलन के कारण अंग्रेज तो इस देश को छोड़कर चले गये, पर जो इस देश में काले अंग्रेज पैदा होने का बीज बो गये, उनसे पैदा होने वाली पौध को देखकर और अंग्रेजियत तथा ईसाईयत की वृद्धि को देख, निश्चित ही मैकाले की आत्मा कब्र में सन्तुष्ट हो रही होगी।

आज हम आधुनिकता के मार्ग पर चलते-चलते उस मार्ग चलने लगे हैं, जिसमें मात्र दिखावट, बनावट तथा सजावट है। इसके लिए हमें छल-कपट-झूठ का सहारा भी लेना पड़े, हम उसके लिए तैयार हैं। असत्य हमारी रग-रग में समाहित हो गया है। भ्रष्टाचार- अनाचार आगे बढ़ने का सोपान बन गया है। हमारा उद्देश्य मात्र इतना ही रह गया है - खाओ, पीओ और मौज करो। हमारे इस दृष्टिकोण ने हमें उस चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहां हमें आगे बढ़ने का रास्ता नहीं सूझता। मृगतृष्णा की भूख इतनी बढ़ चुकी है कि हर प्रकार के जुगाड़ से अपने शरीर और मन की पूर्ण तृप्ति करना चाहते हैं; पर उसके जो दुःखद परिणाम हमारे सामने आ रहे हैं, वह आज हमें सोचने पर मजबूर कर रहे हैं। अनेकों बार हमारे विद्वान् व समाजशास्त्री भी कहते हैं कि - हमें मानव मूल्यों की रक्षा करनी चाहिये, उसके बिना जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। बात भी ठीक है, यदि जीवन में सत्य, परोपकार, दया, करुणा, सहानुभूति, आत्मीयता, क्षमा, धैर्य आदि गुण समाप्त हो जायें, तो इनके अभाव में जो समाज रह जायेगा, वह चिन्तन विहीन मुर्दों का समाज होगा। क्या आप

यह समझते हैं कि मुर्दा वह होता है, जिसमें आत्मा नहीं होती ? मैं भी इस बात को शत-प्रतिशत स्वीकार करती हूं पर यहां आपसे एक प्रश्न अवश्य करूंगी, वह यह कि - जिस मनुष्य की चेतनाशक्ति मर जाय, जो कौमा (अचेतन अवस्था) में चला जाय, तब क्या उसे आप जीवित मानेंगे ? यदि आप कहें कि वह न तो जीवित है और न मरा हुआ है, तो आप यह तो कह ही सकते हैं कि वह मनुष्य मुर्दे के समान है। बस, यहां भी आप यही समझ लीजिये। आज का मनुष्य सुबह से शाम तक, रात्रि से दिन तक या दिन से रात्रि तक जो कुछ दौड़धूप कर रहा है, वह रोबोट की भांति, मशीनी यन्त्र की भांति कर रहा है। यदि उसमें मानसिक वा बौद्धिक चेतना आ जाये, तो वह दौड़धूप के उद्देश्य को समझने की कोशिश करेगा। कौन नहीं चाहता कि मुझे जीवन में सुख मिले ? पर उस सुख प्राप्ति के लिए जिन संसाधनों को वह जोड़ता चला गया, जब उसके जोड़े हुए संसाधन उसके दुःख का कारण बन जायें और यहां तक कि वह आत्महत्या जैसे कर्मों को करने लग जाय, तो फिर आपको यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि सुख भौतिक संसाधनों से ही नहीं आता, किसी अन्य चीज़ से प्राप्त होता है। यदि संसाधन ही सुखों का कारण होते, तो फिर अमेरिका, रूस, जापान आदि धनवान् राष्ट्र अधिक सुखी होते। भारत तो विश्व के धनवान् देशों की सूची में बहुत पीछे हैं। यदि वे विकसित देश सुखी नहीं हैं तो फिर हमें भी इस सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिये कि हम भी सुखी नहीं होंगे। संसाधन सुख की यात्रा में सहायक अवश्य हैं। उनकी इस महत्ता को नकारा नहीं जा सकता; पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संसाधन ही सुख का स्रोत हैं, यह मानना भी एक बहुत बड़ी भूल होगी। जैसे कार किसी मनुष्य को लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायक है, पर कोई मनुष्य हर क्षण कार में ही बैठा रहे, कार से न उतरे और कार को ही अपना लक्ष्य मानकर उसमें बैठा रहे, तो वह कार उसके लिए दुःखदायी हो जायेगी। उसी प्रकार आधुनिक संसाधन शरीर की पूर्ति के लिए सहायक अवश्य हैं, पर मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं। हमारा लक्ष्य है - धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन करें, उस अर्थ के द्वारा अपने जीवन की आवश्यकताओं की सम्यक् व्यवस्था करें और उस व्यवस्था से परमात्मा की शरण में बैठकर उसके आनन्द को प्राप्त करें।

आज धर्म का स्थान मत-सम्प्रदायों ने ले लिया है। हम यही समझने लगे हैं कि धर्म हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई बनाना सिखाता है। जबकि धर्म इसका नाम नहीं है। धर्म उन शाश्वत सत्य नियमों का नाम है, जिनसे मनुष्य के जीवन में मनुष्यता आती है। जैसे अग्नि में से ताप व दाह, जल में से शान्ति व शीतलता समाप्त कर दी जाय, तब अग्नि और जल का कोई मूल्य नहीं होगा, इसी प्रकार मनुष्य में मनन करने की या मनुष्यता की भावना समाप्त हो जाये, तो फिर मनुष्य पशुवत् बन जायेगा। पशु धर्म-अधर्म नहीं जानता। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की उसे पहचान नहीं। सत्य-असत्य का विवेक उससे कोसों दूर है, क्योंकि प्रभु ने उसको भोग भोगने के लिए ही बनाया है। पर मनुष्य को मनुष्य इसलिये बनाया

है कि वह प्रत्येक कार्य से पूर्व क्या.. क्यों.. कैसे. शब्दों का प्रयोग कर उस कार्य से पूर्व मनन करे। यदि उसे यह प्रतीत हो कि यह कार्य ठीक है, परिणाम ठीक है, तो उसे करे। पर उसे यहां भी एक बात का ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य मात्र उसकी उन्नति में ही सहायक न हो, वरन् परिवार-समाज और राष्ट्र की उन्नति में भी सहायक हो, तो उसके कार्य की विशिष्टता अपने-आप सिद्ध हो जायेगी। तभी तो महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं -

"मनुष्य उसी को कहना कि जो मनन शील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं - कि चाहे वे महाअनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके, वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना भी दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"

इसलिये मनुष्य का मनन पूर्वक कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। पर वह कार्य स्वयं के कल्याण के लिए ही न हो, वरन् प्राणी मात्र के कल्याण के लिए हो, तभी मानव जीवन की सार्थकता है। ❐

* विनम्रता का फल *

आचार्य श्याम

एक घर में एक गृहिणी ने गर्मी के दिनों में मिट्टी की सुहारी में पानी इस आशा से भर दिया कि जब भी कोई घर में प्यासा सदस्य आये, वह अपने आप इस सुराही में से पानी लेकर अपनी प्यास बुझा ले। गृहिणी प्रतिदिन उस सुराही में पानी भरती और घर के सब सदस्य उस सुराही के ठंडे पानी का उपयोग करते।

एक दिन घर के सदस्य कहीं बाहर गये थे, पानी पीने वाला कोई घर में था नहीं, तब शिकायत भरे लहजे में सुराही पर रखे ढक्कन ने सुराही से कहा - 'मैं तुम्हारे अन्दर भरे पानी को स्वच्छ रखने में तुम्हारी मदद करता हूं, घर में जो भी आता है वह तुमसे पानी लेकर अपनी प्यास बुझाता है, क्या तुमने कभी सोचा कि मुझे तुम्हारे साथ रहते-रहते कितने दिन हो गये, पर मुझे तुम्हारा पानी एक बूंद भी आज तक प्राप्त नहीं हुआ ?'

सुराही ने ढक्कन की बात को सुना और शान्त स्वर में बोली - मित्र ! बात तो तुम बिल्कुल ठीक ही कह रहे हो। मेरे समीप रहते हुए तुम्हें अनेकों दिन हो गये, और तुम्हें मेरा एक बूंद भी पानी प्राप्त नहीं हो पाया। पर मित्र इसमें ग़लती मेरी नहीं। मैं पानी उसी को पिला सकती हूं, जो झुकना जानता है। ये ठीक है कि मैं भी उसके सामने झुकती हूं, पर यह मेरे झुकने की प्रक्रिया तब होती है, जब वह विनम्रता से मेरे पास आकर पानी प्राप्त करने की इच्छा रखता है। पर एक तुम हो, जो मेरे समीप कभी नहीं आये। न तुम कभी स्वयं झुके और न तुमने मुझसे पानी प्राप्त करने की इच्छा रखी। बस, तुम तो मेरे सिर पर ही बैठे रहते हो। याद रखो, जो सिर पर बैठता है, कृपा उस पर नहीं होती। भगवान् भी अपनी कृपा उस पर करता है जो भगवान् के चरणों में बैठता है। गुरु भी विद्या का दान सिर पर बैठने वाले को नहीं देता, वरन् उस शिष्य को देता है जो उसके चरणों में बैठता है। याद रखो, यदि किसी से कुछ प्राप्त करना है जो पहले स्वयं झुककर उसके चरणों में बैठना सीखो। जब आपकी श्रद्धा व विश्वास देनेवाले को सुनिश्चित हो जायेगा, तो वह आप पर अपनी कृपा अवश्य करेगा। ❐

हम भोजन कैसा करें?

होतीलाल शर्मा 'वैदिक'
हरिगढ़ (उत्तर प्रदेश)

जीवन में पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति के लिए उत्तम स्वास्थ्य का होना परमावश्यक है। **"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"** शरीर ही धर्मादि पुरुषार्थों के संचय करने का साधन है, ऐसा सभी विद्वान् जन स्वीकार करते हैं। यदि शरीर स्वस्थ है तो धर्मादि का संचय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। आयुर्वेद के विद्वानों ने उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए **भोजन-निद्रा** और **ब्रह्मचर्य** इन तीन साधनों की ओर संकेत किया है। यदि इन तीनों का सम्यक् अनुष्ठान किया जाय तो मनुष्य स्वस्थतापूर्वक पूर्ण आयु प्राप्त कर सकता है। प्रस्तुत विषय हम भोजन कैसा करें ? इस विषय पर आज हम महर्षि चरक जी की सम्मति के आधार पर कुछ चिन्तन करने का प्रयास करें। उसके लिए आवश्यक है कि हम महर्षि चरक के भोजन के प्रति दिये निर्देशों को ध्यान से पढ़ें और उनका अनुसरण करें। वे लिखते हैं, वे -

(1) उष्णं अश्नीयात् - भोजन ठंडा या रखा हुआ कभी न करे। ताज़ा उष्ण भोजन ही करे।

(2) स्निग्धं अश्नीयात् -भोजन चिकना हो। अर्थात् घृतादि का भोजन में पूर्ण उपयोग हो।

(3) मात्रावद् अश्नीयात् - स्वाद-स्वाद में अधिक भोजन न करे। जितनी शरीर को आवश्यकता हो, मात्र उतना ही भोजन करे।

(4) जीर्णे अश्नीयात् - अजीर्ण (अपच) होने पर भोजन न करे। पहले खाये हुए भोजन के पचने के बाद ही भोजन करे।

(5) वीर्याऽविरुद्ध अश्नीयात् - जिन पदार्थों के गुण विषम हों, उनका प्रयोग न करे। जैसे - दूध के साथ खट्टा या नमक।

(6) इष्टे देशे अश्नीयात् - भोजन उचित स्थान पर बैठकर ही करे। खड़े-खड़े भोजन करना उचित नहीं।

(7) नाति द्रुतं अश्नीयात् - भोजन चबा-चबाकर करें, टुकड़ा निगल करके नहीं।

(8) नाति विलम्बितं अश्नीयात् - भोजन बहुत धीरे-धीरे या रुक-रुक कर कभी न करे।

(9) अजल्प अहसन् तन्मना भुञ्जीत् - भोजन करते समय अनावश्यक बातें न करे और न हंसे। भोजन से मुझे शक्ति प्राप्त हो रही है, ऐसा विचार कर, मन लगाकर ही भोजन करे।

(10) आत्मानं अभिसमीक्ष्य भुञ्जीत् सम्यक् - भोजन करते समय अपने शरीर की शक्ति या उष्ण-शीत स्वभाव वाले भोजन की समीक्षा करके ही भोजन करे।

यदि आप भोजन करते समय इन दस सूत्रों पर ध्यान देंगे तो आपका भोजन आपके शरीर का अङ्ग बनकर ऊर्जा, बल, तेज और दीर्घायु प्रदान करने वाला होगा। ❑

राष्ट्रगीत 'वन्दे मातरम्' - एक समीक्षा

आचार्य आनन्द प्रकाश
आर्ष शोध संस्थान, आलियाबाद (तेलंगाणा)

आजकल **'वन्दे-मातरम्'** गीत पर बहुत विवाद चल रहा है। कुछ समुदाय इसके विरोध में हैं। उनके अनुसार इससे उनकी धार्मिक मान्यताओं से विरोध होता है। वे निराकार ईश्वर, ख़ुदा के अतिरिक्त किसी जड़ वस्तु की/भूमि की उपासना, भक्ति/इबादत नहीं करते। कुछ नास्तिक निरीश्वरवादी किसी ईश्वर को नहीं मानते, न भक्ति/उपासना/ इबादत करते हैं। इसी विवाद का विषय बने **'वन्दे'** शब्द की हम समीक्षा कर रहे हैं -

संस्कृत में **'वन्दे'** शब्द क्रियापद है, जो **'वदि अभिवादनस्तुत्योः'** (=अभिवादन/ प्रणाम करना एवं स्तुति/गुणगान करना) धातु से लट् लकार (वर्त्तमान काल) में उत्तम पुरुष के एक वचन में बनता है। **वन्द्+शप्+लट् = वन्द्+अ+इट् = वन्दे।** इस धातुरूप के इसके धात्वर्थ के अनुसार दो अर्थ हैं -

1. मैं स्तुति/गुणगान/प्रशंसा/नामवरी/ बढ़ाई करता हूं। यह अर्थ चेतन एवं जड़/निर्जीव पदार्थों/वस्तुओं के प्रति होता है; क्योंकि जड़ वस्तुओं की उपासना/भक्ति/इबादत का तो औचित्य नहीं है। किन्तु प्रशंसा/गुणगान/ नामवरी तो चेतन के साथ- साथ जड़ वस्तुओं की भी हो सकती है। जैसे- प्रत्येक दुकानदान अपनी बेचने की वस्तुओं की प्रशंसा/गुणगान/ बढ़ाई करता है। फलविक्रेता कहता है - ये फल ताजे हैं, मीठे हैं, आदि। शाकविक्रेता कहता है - ये तरकारी ताज़ा है, बहुत अच्छी है, सस्ती है। टी.वी., रेडियो, अखबारों में दिन-रात लोग/ कम्पनियां अपने उत्पादों की जोर-शोर से वन्दना/प्रंशसा/स्तुति/ गुणगान/ बढ़ाई करते हैं, जिससे उनका माल अधिक बिकता है। अर्थात् प्रत्येक मालविक्रेता अपनी वस्तुओं की वन्दना/ स्तुति/प्रशंसा/बढ़ाई/नामबरी करता है। यदि वह वन्दना/ प्रंशसा/बढ़ाई/ गुणगान न करे तो उसका माल धरा रह जाएगा। यदि विक्रेता कहे कि मैं इन वस्तुओं की स्तुति/प्रशंसा/गुणगान नहीं करूंगा, तुम्हें चीज़ लेनी है तो लो, नहीं तो आगे बढ़ो, तो दुकान नहीं चल सकती। मैंने प्रत्येक दुकानदार को अपने माल की वन्दना/प्रशंसा/ स्तुति बढ़ाई करते देखा है। चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, सिख हो, नास्तिक हो, स्त्री हो या पुरुष हो। संस्कृत के भारतीय राष्ट्रगीत में भी मातृभूमि की स्तुति/प्रशंसा ही की गई है -

वन्दे मातरम्,

सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्, शस्यश्यामलां मातरम्, वन्दे मातरम्। शुभ्रज्योत्स्नां पुलकित यामिनीम्, फुल्ल-कुसुमितदुमदलशोभिनीम्, सुहासिनी

सुमधुर भाषिणीम्, सुखदां वरदां मातरम्।
वन्दे मातरम्... ॥

अर्थात् - मैं (पृथिवीपुत्र) अपनी मातृ-भूमि (जन्मभूमि) की वन्दना/गुणगान/नामवरी करता हूं, जो सुन्दर मीठे जलवाली, मीठे रसीले फल-फूलवाली, ठण्डी सुगन्धित वायुवाली, हरीभरी फसलों से सजी हुई, चमकीले प्रकाश वाली, शान्तिप्रद रात्रियों वाली है, यह फलते-फूलते वृक्षों से सुशोभित है, यहां के वासी हंसते-खेलते मधुरभाषी हैं। यह मेरी मातृभूमि सुख देनेवाली और वरदान देनेवाली (लक्ष्य को पाने की शक्ति देनेवाली) है। ऐसी अद्‌भुत मातृभूमि की मैं वन्दना/प्रशंसा/गुणगान/नामवरी करता हूं।

इस गीत में गुणगान/प्रशंसा करनेवाले ही शब्द हैं। धोक मारने/उपासना/इबादत करने को नहीं कहा गया। जिस देश की मिट्टी से हम पले-बढ़े हैं, उसकी प्रशंसा करना/गुणगान करना तो हमारा स्वाभाविक धर्म है; अन्यथा कृतघ्नता, ऐहसान फरामोशी का पाप लगेगा।

मैं यह व्याख्या अपनी मनमानी या खींचातानी से नहीं कर रहा हूं, अपितु हजारों, लाखों वर्षों से उक्त दोनों अर्थों में यह धातु है, जिससे **'वन्दना' (=अभिवादन/प्रणाम और स्तुति/प्रशंसा)** शब्द बनता है। इसके जो अर्थ हजारों वर्ष पूर्व थे, वही अब हैं और ये ही दोनों अर्थ वर्षों के बाद भी रहेंगे।

'वन्दे-मातरम्' पर आपत्ति का कारण मैं समझता हूं कि वे **'वन्दे'** शब्द का एकमात्र अर्थ अभिवादन करना/इबादत करना ही समझते हैं, जो कि इस शब्द के प्रति घोर अन्याय है और पचास प्रतिशत झूठ है। इस 'वन्दे' शब्द का अर्थ 'अभिवादन' भी है, किन्तु 'अभिवादन' ही नहीं, अपितु **'स्तुति करना, प्रशंसा करना, गुणगान करना भी है।'** वही दूसरा अर्थ इस गीत में लेना अभीष्ट है।

अतः मेरा निवेदन है, कि सभी लोग अपने देश की प्रशंसा करने वाले गीत को मातृभूमि की स्तुति/प्रशंसा/गुणगान/नामवरी करने वाला मानकर निःसंकोच प्रसन्नता से गावें।

अन्य क्षेत्रिय भाषाओं में तो एक शब्द के अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं; जैसे - मराठी भाषा में **'ताई'** का अर्थ है - **दीदी** (बड़ी बहिन), किन्तु हिन्दी भाषा में 'ताई' का अर्थ ताऊ की पत्नी या मां की जेठानी होता है। अतः यदि आप उत्तर-प्रदेश में 'दीदी' को 'ताई' कहकर बुलायेंगे तो वह नाराज होगी, थप्पड़ देगी या गाली देगी। किन्तु यदि महाराष्ट्र में दीदी को 'ताई' कहकर बुलायेंगे तो वह प्रसन्नता से उत्तर देगी। किन्तु संस्कृत भाषा में ऐसी भ्रान्ति नहीं होती। स्थिति के अनुसार उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

यदि आप राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकृत **'वन्दे मातरम्'** के पदसमूह को देखेंगे तो आपको पता चलेगा कि इस गीत में भारत का नाम नहीं है, अतः इसे पाकिस्तान, चीन, जापान, अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि के सभी देश गा सकते हैं। अर्थात् यह किसी एक देश (भारत) का ही गीत नहीं है, अपितु पृथिवीवासी प्रत्येक देशवाले को गाने योग्य है।

मेरा मान्य प्रधानमन्त्री जी से निवेदन है कि इस गीत **'वन्दे-मातरम्'** को संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ए.) में **'विश्व राष्ट्रगीत'** की मान्यता दिलाने के लिए प्रयत्न करें; क्योंकि हम सब पृथिवीवासी एक कुटुम्ब हैं - **"वसुधैव कुटुम्बकम्"।** यदि आगे कभी हमें मंगलग्रह वासियों या बृहस्पति ग्रहवासियों के साथ मिलने के अवसर मिले तो हम गर्व से कह सकें कि - हम ऐसे पृथिवी ग्रह के वासी हैं, जैसी इस गीत में चर्चा की गयी है।

इस गीत के शीर्षक **'मातरम्'** शब्द पर भी विवाद है कि हम भूमि को **'मातरम्'** क्यों कहें ? सो इसका अर्थ समझें कि यह शब्द वाचकलुप्तोपमालङ्कार में है। अर्थात् **माता के समान सुख देनेवाली या जीवन देने वाली भूमि 'मातृभूमि'।** उसी मातृभूमि को इस गीत में **मातरम्** कहा गया है।

इसी सादृश्य से बहुत से शब्द बोले जाते हैं। जैसे - **'नरशार्दूलः'** रामसिंह, रणसिंह, धर्मसिंह, गोविन्दसिंह आदि-आदि। सिख बन्धुओं के नाम अधिकतर 'सिंह परक होते हैं। इन सबका अर्थ है - सिंह के समान पराक्रमी और उत्साही। न कि बड़े-बड़े दांतों और पंजों वाला जानवर।

आशा है कि सभी मत-संप्रदाय के लोग तथा सभी देशों के मनुष्य इस **'वन्दे-मातरम्'** गीत को खुशी-खुशी से गा-गाकर स्वयं भी प्रफुल्लित हों तथा समस्त देश के नागरिकों कें जीवन में प्रसन्नता, उत्साह व आशा का संवर्द्धन करें, तभी कल्याण सम्भव है। ❐

संस्कृत भाषा में

प्रसिद्ध राष्ट्रीय वाक्य

1. **सत्यमेव जयते** (भारत सरकार)
2. **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** (आर्यसमाज)
3. **धर्मो रक्षति रक्षितः** (धर्म संवर्द्धिनी सभा)
4. **बहुजन हिताय** (ऑलइंडिया रेडियो)
5. **सत्यं शिवं सुन्दरम्** (दूरदर्शन)
6. **धर्मचक्रप्रवर्तनाय** (लोकसभा)
7. **यतो धर्मस्ततो जयः** (सुप्रीम कोर्ट)
8. **नभः स्पृशं दीप्तम्** (वायुसेना)
9. **शं नो वरुणः** (जलसेना)
10. **सेवा अस्माकं धर्मः** (थलसेना)
11. **विद्ययाऽमृतमश्नुते** (एन.सी.ई.आर.टी)
12. **श्रम एव जयते** (श्रम मन्त्रालय)
13. **तत्त्वं पूषन्नपावृणु** (केन्द्रीय विद्यालय संगठन)
14. **निष्ठा धृतिः सत्यम्** (दिल्ली विश्वविद्यालय)
15. **अहर्निशं सेवामहे** (डाकतार विभाग)
16. **योगक्षेमं वहाम्यहम्** (एल.आई.सी. विभाग)
17. **अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु** (आर्यवीरदल)
18. **वयम् रक्षामः** (भारतीय तटरक्षक बल)
19. **बलमुपास्व** (आर्य युवक परिषद्)
20. **गुरुः गुरुतमो धामः** (नेशनल कौंसिल फॉर टीचर एजूकेशन)
21. **योगः कर्मसु कौशलम्** (भारतीय प्रशासनिक सेवा अकादमी)
22. **अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्** (हिन्दी साहित्य अकादमी दिल्ली)
23. **हवयाभिर्भगः सवितुर्वरेण्यम्** (भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी)
24. **ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत** (गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
25. **ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्** (गुरु गोविन्दसिंह इन्द्रप्रस्थ विद्यालय, दिल्ली)
26. **असतो मा सद्गमय** (केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड एवं डी.ए.वी.विद्यालय)

बालकों को सुसंस्कारवान् बनायें

शकुन्तला आर्या
हरिगढ़ (उत्तर प्रदेश)

जो बच्चा घर में अथवा घर से बाहर जाते हुए साफ-सुथरे ढंग से रहता है, वह बच्चा सभी को प्यारा लगता है और सभी लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं। अनकों बार तो ऐसा भी देखने में आता है कि वे उस प्यारे बच्चे को अपने पास बुलाने से नहीं रोक पाते। लेकिन इसके स्थान पर अगर बच्चा ग़न्दा रहने का आदी हो तो उससे हर कोई दूर रहने की कोशिश करेगा और अपने बच्चों को उससे दूर रखेगा। इसमें ग़लती बच्चे की नहीं है, मां-बाप की है कि उन्होंने बचपन में बच्चों को अच्छे संस्कार देने के लिए समय नहीं निकाला। अपने बच्चे को अच्छा देखने की इच्छा वाले मां-बाप को चाहिये कि वे अपने बच्चों को प्रारम्भ से ही प्रातः-सायं अपने पास बिठाकर ऐसे संस्कारों से संस्कारित करें कि वे अच्छे संस्कार व अच्छी बातें उनके बच्चों के जीवन का अभिन्न अङ्ग बन जायें। माता-पिता एक बात का अवश्य ध्यान रखें कि आप जो बातें बच्चों को सिखाना चाहते हैं, उन बातों पर आप स्वयं भी आचरण करें। याद रखें जो माता-पिता स्वयं अनुशासित जीवन व्यतीत न कर, बच्चों को अनुशासित करने पर जोर देते हैं, उनकी सन्तान उनकी बात का कभी अनुसरण नहीं करती। कभी-कभी तो ऐसा भी देखने में आता है कि उनके बच्चे आवश्यकता से अधिक प्रतिशोधात्मक भावों में बहना प्रारम्भ कर देते हैं, जो उनके जीवन के लिए तथा माता-पिता के भविष्य के लिए अच्छी नहीं है। इसलिए जो बातें मां-बाप अपने बच्चों को सिखाना चाहते हैं, उन बातों का अनुसरण स्वयं भी आवश्यक है। आइये कुछ शिष्टाचार की निम्न बातें बच्चों को अवश्य सिखायें -

* प्रातः उठते ही घर के सभी सदस्य एक-दूसरे को हाथ जोड़कर अथवा अपने बड़ों के पैर छूकर प्रतिदिन अभिवादन करें।

* सभी एक स्थान पर बैठकर परमात्मा का धन्यवाद एवं प्रार्थना करें। यदि ऐसा सुगम न हो तो बड़े अथवा बच्चे परमात्मा की प्रार्थना अपने-अपने कमरे में बैठकर अवश्य करें।

* शौचादि, दन्तधावन, स्नान, ध्यान करने की आदत प्रतिदिन की बनायें।

* बच्चे अपने निजी सामान ड्रैस, जूते, कॉपी-पुस्तकादि को यथास्थान रखने का स्वभाव बनायें।

* जिस कार्य की जिम्मेदारी हो, उसको पूर्ण करें, यह बालकों का श्रेष्ठ गुण माना जाता है।

* बालकों को सिखायें कि जुकाम-खांसी व जंभाई आने पर मुंह फेरकर, मुंह पर रुमाल अवश्य रखें। यदि हो सके तो दूर जाकर इस कार्य को पूर्ण कर फिर उनके बीच आकर बैठें।

* नाक, कान, दांत कुरेदना शिष्टाचार नहीं है। यदि बहुत आवश्यक हो तो पृथक् स्थान पर बैठकर यह कार्य करें, पर सबके बीच में नहीं।

* प्रयोग किया हुआ सामान इधर-उधर न फैंककर कूड़ेदान में ही डालना सिखायें।

* जब कोई बाहरी व्यक्ति घर में मिलने के लिए आये तो हाथ जोड़कर 'नमस्ते' कहकर उसका स्वागत करें। यदि बच्चा अन्दर कमरे में पढ़ाई में संलग्न है तो माता-पिता बच्चों को यह अवश्य बतायें कि आप एक-दो मिनट के लिए बाहर आकर, अतिथि को प्रणाम कर, प्रसन्नतापूर्वक अवश्य मिलें, अन्यथा आप कभी व्यवहारिक नहीं बन सकते।

* किसी के घर में प्रवेश करने से पूर्व घंटी बजायें। हो सके तो फोन पर पूर्व संदेश अवश्य दें।

* यदि आप घर में कोई टी.वी. प्रोग्राम देखना चाहते हों तो बड़ों की आज्ञा अवश्य लें।

* बड़ों से जब भी कोई चीज़ लेनी हो तो पूछकर लें। मना करने पर ज़िद करना अच्छा नहीं।

* बच्चों को सिखायें कि वे पड़ोसी वा किसी अतिथि के सामने किसी भी प्रकार की ज़िद न करें। अन्यथा आप अशिष्ट माने जायेंगे।

* धन्यवाद के साथ-साथ एक्सक्यूज-मी जैसे शब्दों से बच्चों का परिचय अवश्य करायें ताकि वे इनका प्रयोग आवश्यकतानुसार कर सकें।

* जब कोई बड़ा आपसे बात कर रहा हो तो उसकी बात ध्यान से सुनें तथा उसकी तरफ देखें।

* यदि कोई दो व्यक्ति आपस में बात कर रहे हों और बच्चा कुछ कहना चाहता है, तो उसे बतायें कि या तो बात खत्म होने का इंतजार करें या प्लीज़ ! एक्सक्यूज मी या क्षमा करें, कहकर बीच में बोलने की इजाज़त लें।

* बच्चा जब अपने फ्रेंड्स से मिलने जाए तो उसके पेरेन्ट्स को जरूर मिलें और आदर के साथ थोड़ी बात भी करें।

* जब साथ में बैठकर खाना खाएं तो पहले बड़े व्यक्ति को शुरू करने दें।

* खाते समय कम से कम बोलें और जब खाना मुंह में हो तब तो कतई न बोलें।

* खाने की टेबल पर न तो छीना-झपटी करें और न ही कोई वस्तु छांटने की कोशिश करें।

* स्वादिष्ट पदार्थ को आप स्वयं अधिक से अधिक खाने की कोशिश न करें, अन्यथा दूसरों की निग़ाहों में आप अच्छे बच्चे नहीं कहला सकते।

* प्रयत्न करें कि प्लेट में झूठा खाना न बचे। उतना ही खाना लें जितना आप खा सकें। यदि किसी परिस्थितिवशात् आपका या अन्य किसी परिजन वा मेहमान का खाना बच जाये तो डस्टबिन में डालने के स्थान पर अलग किसी पात्र में एकत्रित कर किसी गाय-कुत्ते आदि पशुओं को खिला दें।

* यदि आपके साथ अन्य लोग भी भोजन कर रहे हैं तो आप उठने से पहले उनके भोजन समाप्त करने की प्रतीक्षा करें। यदि आपको किसी कार्य से शीघ्र उठना ही हो तो उनकी अनुमति लेकर ही उठें।

* भोजन समाप्त कर जब उठें तो हाथ-मुंह धोकर कुल्ला करके दांतों को अच्छी तरह साफ कर लें, अन्यथा आपके दांत शीघ्र खराब हो जायेंगे। ❐

महर्षि दयानन्द द्वारा निर्देषित समाज व्यवस्था

वैद्यनाथ चतुर्वेदाचार्य
(दिल्ली)

वेदों के महान् प्रचारक आधुनिक युग के स्त्रष्टा आचार्य दयानन्द का कार्य सभी जागृति के क्षेत्रों में अपना एक अनुपम स्थान रखता है। भारत में जो कुछ भी सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक जागृति दिखलाई पड़ रही है, उस सबमें ऋषि दयानन्द की देन महान् है। ऋषि के साथ वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे वेद से ही सारी समस्याओं का समाधान मानते थे, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान है और मानव के कल्याणार्थ प्रेरणारूप में मानव को मिला है। वस्तुतः वेद है ही समस्त ज्ञान-विज्ञानों का भण्डार और उससे सभी समस्याओं का समाधान मिल सकता है।

ऋषि दयानन्द सारी बातें वेद के ही आधार पर कहते हैं और उसी को वे समाज-व्यवस्था चलाने का मूलमन्त्र समझते हैं। ऋषि ने आर्यसमाज के नियमों में ही समाज का सारा दर्शन भर दिया है। देखने में वे नियम छोटे-छोटे सूत्र मालूम पड़ते हैं, परन्तु दयानन्द का दर्शन उन पर आधारित है और उनके आधार से ही हम ऋषि के दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रतिपादित कर सकते हैं। समाज के निर्माण, उद्देश्य और व्यवस्था के सम्बन्ध में ऋषि के सूत्र निम्न प्रकार हैं -

1. सत्य के ग्रहण और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

2. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके ही करने चाहिए।

3. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

4. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

5. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

7. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

ये सूत्र केवल आर्यसमाज के ही नियम नहीं हैं, बल्कि व्यक्ति और समाज के उत्थान तथा परस्पर सम्बन्ध और उद्देश्य के नियम हैं। प्रथम चार सूत्रों में व्यक्तित्व के उत्कृष्ट निर्माण का वर्णन है और पांचवें तथा सातवें में समाज की रचना के नियम और व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध का वर्णन है। सातवें सूत्र वाक्य में समाज के उद्देश्य और व्यक्ति को उससे होने वाले लाभ का वर्णन है। इन पर यदि गम्भीरता से विचार किया जावे तो समाज-व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों

का विवेचन इनमें मिलेगा। समाज व्यक्तियों से बनता है। उनकी उत्कृष्टता अनुकूलता व्यक्तियों की उत्कृष्टता अनुकूलता पर आधारित है। समाज में उच्च व्यक्तित्व के व्यक्ति होने चाहिए, जो समाज का उन्नत बनावें।

उदात्त समाज की रचना के लिए उदात्तचरित्र और व्यक्तित्व के व्यक्ति चाहिए। व्यक्तित्व का निर्माण सत्यग्रहण, असत्यत्याग, विद्या की वृद्धि, अविद्या का नाश, धर्मानुसार प्रेममय बर्ताव और प्रत्येक समाज के व्यक्ति की उन्नति की भावना से हुआ करता है। समाज के तीन महान शत्रु हैं – अज्ञान, अभाव और भूख। इनका निवारण समाज को करना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति शिक्षित उच्च व्यक्तित्व के हों। समाज कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो आरम्भ से ही पूर्ण हो, बल्कि उसका सदा निर्माण होता रहता है। उसका निर्माण कभी पूरा नहीं होता है। समाज निर्माण के कुछ मूल सिद्धान्त हमें वेदों में ऐसे मिलते हैं जो सदा स्मरण रखने के योग्य हैं।

संसार की यह सारी जड़-जङ्गम रचना एक शाश्वत नियम पर कार्य कर रही है। उस नियम को नाम 'ऋत' है। साधारण शब्दों में इसे सत्य कह दिया जाया करता है। समाज भी इस ऋत पर ही आधारित होना चाहिए। तभी तो कहा गया है –

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः। प्रजामेका जिन्व-त्यूर्जमेका रक्षति देवयूनाम् ॥

(अथर्व 8/9/13)

समाज के इस मुख्य सिद्धान्त का ही वेद वर्णन करता है। मानव हृदय, वाणी और मस्तिष्क का समन्वय है। साथ में आत्मशक्ति भी है। परन्तु उसका व्यक्तीकरण मस्तिष्क, वाणी और हृदय से ही होता है। इनमें तीन शक्तियां हैं जो उक्ति, कृति और विचार के नाम से कही जाती हैं। ये तीनों ऋत के नियम पर वेग से चल रही हैं। इनके बीज को लेकर तीन धर्म समाज में चलते हैं। वे हैं ऋग्वेद के वाक्यों में –

सं गच्छध्वं सं वदध्वं
सं वो मनांसि जानताम् ॥

(ऋ0 10/191/2)

समाज इन तीनों शक्तियों का अनुकरण करके ही संचालित होता है। इन शक्तियों से संचालित समाज में तीन प्रकार के बल आते हैं। वे बल हैं – **यथार्थ उक्ति, यथार्थ मति** और **यथार्थ गति।** इन्हीं को वेद में 'इळा' 'सरस्वती' और 'भारती' कहा गया है। इनमें से एक समाज की, दूसरी राष्ट्र की और तीसरी धर्म की रक्षा करता है। इससे समाज उन्नत होता है और समाज के निर्माण में यह मूलभूत वस्तुयें हैं। ऋषि के पूर्वोक्त सूत्रों में इनका पूरा समन्वय है।

दयानन्द के सामाजिक दर्शन पर विचार करने पर यह भलीभांति ज्ञात हो जाता है कि उनका बल व्यक्ति और समाज दोनों पर है, किसी एक पर नहीं। वर्त्तमान में दार्शनिकवाद इस विषय में केवल एक पर ही बल देते हैं, दयानन्द इसके विरोधी थे। व्यक्ति वस्तुतः शून्य ईकाई नहीं, वह समाज का निर्माण करने वाली हैं। व्यक्ति के जीवन के दो अंचल हैं –

अधिकार और **कृतज्ञता।** समाज के अङ्गभूत व्यक्ति के लिये इन दोनों अंचलों को सामंजस्य में रखना आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति जो वास्तव में अधिकार रखता है, कृतज्ञता नहीं, वह अत्याचारी बन जाता है, और जो केवल कृतज्ञता रखता है अधिकार नहीं, वह दास कहलाता है। दोनों प्रकार की भावनाओं का मूर्त रूप समाज है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अधिकार के साथ-साथ कृतज्ञता भी रखता है। व्यक्ति और समाज दोनों परस्पर समन्वित हैं। व्यक्ति समाज के लिये और समाज व्यक्तियों के लिये हैं। आज इस तथ्य को न मानकर दो वाद एक-दूसरे के विरुद्ध सीना तानकर खड़े हो गये हैं। कुछ समय से व्यष्टि और समष्टि ऐसे दो किनारे बन गये हैं, जिनका परस्पर मेल करना कठिन हो गया है। इनके बीच पहला है - **व्यक्तिवाद (Individualism)** और दूसरा है - **समष्टिवाद (Collectivism)**।

इन दोनों का दार्शनिक रूप इतना ज़्यादा खींचतान का है कि दोनों एक बिन्दु पर मिल नहीं सकते। एक यदि गङ्गा के कूल पर है तो दूसरा टेम्स के कूल पर; परन्तु दोनों की आन्तरिक दूरी को मिलाना अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्र और समाज को उन्नत बनाने के लिये उन्नत व्यक्तित्व के निर्माण की आवश्यकता है, यह ऊपर कहा गया है; क्योंकि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है।

व्यक्ति के महत्त्व को अधिक दर्शाते हुए अनेक व्यक्तिवादी दार्शनिकों ने व्यक्ति को समाज की अपेक्षा उच्च स्थान दिया। समाज को केवल उसका खेल-मात्र समझा। मानव के इस गुण को कि वह एक सामाजिक प्राणी है, इस वाद ने एक प्रकार से दृष्टि से ओझल करने का प्रयत्न किया। व्यक्तिवाद इस धारणा का पोषक है कि व्यक्ति ही उद्देश्य और समाज साधन है। व्यक्ति के अधिकार ही वास्तविक हैं। वह सब कुछ अपने अधिकार के लिये ही करता है। इसका त्याग और कर्त्तव्य अपने पूरे अधिकार को प्राप्त करने के लिये साधनमात्र है, जिनके बिना यह समाज में अपने स्वार्थ को पूरा नहीं कर सकता। व्यक्ति को जहां अपने स्वार्थ की सिद्धि करनी है, वहां उसे अपने सर्वाङ्गीण उत्कर्ष को भी पूरी तरह दृष्टिपथ में रखना चाहिये। उसके जीवन का सारा संग्राम उसके अपने समुत्कर्ष के लिये ही है, अन्य के लिये नहीं।

इस वाद का तार्किक परिणाम भी अराजकता है। जहां प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही उन्नति की धुन में हो, दूसरे के प्रति उसको कोई कर्त्तव्य न हो - वहां समाज, स्वभावतः नगण्य बन जाता है। व्यक्ति का उत्थान ही सर्वस्व होता है। इसी व्यक्ति की समुत्कर्ष की भावना से चेतनाद्वैतवाद को जन्म दिया। इसके अनुसार एक ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त खड़ा हो गया, जिसने समष्टि को एक चेतन परामात्मव्यक्ति का खेल मात्र बना दिया। समष्टिगत सारे प्रपञ्च को एक में ही अन्तर्हित और समन्वित करने की चेष्टा की गई। प्रचलित आधुनिक वेदान्तवाद को व्यक्ति-वाद की विशुद्ध देन कहा जा सकता है। जब प्रत्येक एक का ही स्वरूप है, यह धारणा बद्धमूल हो गई तो मानव का उद्देश्य उसी एक के

तादात्म्य होने की ओर झुका। परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिवाद एवं व्यक्तिगत समुत्थान का बोलबाला हुआ और समष्टि अथवा समाज की भावना पीछे पड़ गई। व्यक्ति सत्य और समष्टि मिथ्या हो गई। इस प्रकार परिणामतः व्यक्तिवाद अनन्यातिरिक्त एकात्मवाद के रूप में विराजमान हो गया। यह दूषण न खड़ा हो, इसलिये ऋषि ने कहा कि –

"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।"

दूसरा वाद **समष्टिवाद** अथवा **समाज वाद** के रूप में उदित हुआ। इसके अनुसार व्यक्ति का स्थान समाज में एक ईकाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना गया है। इस दृष्टि के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह बिना समाज के अकेले नहीं रह सकता। वह समाज का अङ्ग होने से उसके लिए उत्तरदायी है। वह समाज से इतना बंधा हुआ है कि एक क्षण के लिए उसको पृथक् नहीं किया जा सकता। वह एक-दूसरे के प्रति कृतज्ञता रखता है और उसकी पूर्ति समाज से होती है, जो कि उसका परम उद्देश्य है। वह त्याग और बलिदान आदि जो कुछ भी करता है, वह उसके जीवन का एक नियम है। कोई भी अङ्ग-कण किसी अङ्गी का अङ्ग तब तक ही कहला सकता है, जब तक कि वह उसी के लिये मरता, उसी के लिये जीता है। अगर वह कुछ भी अपनी सत्ता को रखना चाहता, तो उसके लिये आवश्यक है कि वह किसी समाज का अङ्ग बना रहे। जो कुछ है वह समाज है, व्यक्ति केवल अङ्ग से अन्य कुछ नहीं। समाजवाद की इस विचारधारा को तार्किक परिणाम समाज रूपी अङ्गी में व्यक्ति को कण-मात्र ठहराना है वह व्यक्ति समाज के जीवन को कायम रखने का साधनमात्र है, समाज साध्य है, समष्टि है जो महत्त्व रखती है, उसके भाग नहीं। मनुष्य और व्यक्ति आते और जाते हैं, केवल मानवजाति ही शाश्वत बनी रहती है। इसलिये व्यक्ति को चाहिये कि वह समाज का उत्थान करे और उसके द्वारा अपने राष्ट्र को उन्नत करे। यही आत्यन्तिक उद्देश्य है, अन्य कुछ नहीं। यह वाद ही बद्धमूल होकर समाजवाद के रूप में होता हुआ अन्तर्राष्ट्रीयवाद तक पहुंचा।

व्यक्तिवाद ने जहां एकात्मवाद का रूप धारण किया, वहां इसने अपने कलेवर को अन्तर्राष्ट्रीयवाद में परिवर्तित कर दिया। आज का समष्टिवादी जगत् इस अन्तर्राष्ट्रीयवाद से आगे नहीं बढ़ता। वह समझता है कि मानव जीवन की चरम-सीमा इस महान् उन्नति के अतिरिक्त कुछ नहीं। सम्पूर्ण मानवता क्या है, वह इसकी ओर तनिक भी ध्यान देने को तैयार नहीं। राष्ट्र की उन्नति को, मानवता मिटे या रहे, उसे इससे कोई सरोकार नहीं। व्यक्ति के मूल्य को समाज में विलीन करते हुए इस वाद ने दार्शनिक रूप देने में मानव जीवन को भी शून्य प्रकृति का विकार ठहराने का प्रयत्न किया। मनुष्य जीवन का तत्त्व निर्णय भी प्रकृति में ही सम्मिलित कर लिया गया। इस महान् तत्त्व को भी व्यक्ति की भांति समाप्त करके यह निष्कर्ष

निकाला गया कि संसार की पहेली का इतिहास भूतात्मक है। यह जीवन क्या है ? संसार क्या है? इन प्रश्नों का समाधान क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वित क्रिया (**Thesis, antithesis and Synthesis**) से दिया जाने लगा। समष्टिवाद की नींव को दृढ़ करने के लिए जो दार्शनिकवाद इसकी पृष्ठभूमि में खड़ा किया गया, वह था – प्रकृतिवाद, जो आज अपना एक उग्ररूप धारण करता दिखाई पड़ रहा है।

इस धारणा के अनुसार जगत् और जीवन के मूल को प्रकृति नाम दिया गया। उसकी व्याख्या करते हुए परमाणुवाद (**Atomic Theory**) खड़ा हुआ। जिसको ठोस परमाणु कहा जाता था, बाद में वही विद्युत् कणों का संघात माना जाने लगा। पुनः ये केवल विद्युत् प्रेरणायें ठहराये गये।

इस प्रकार वस्तु की वास्तविकता को भी नष्ट करके केवल प्रगतियों को ही आश्रय दिया गया और संसार को क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वित क्रिया का प्रवाहमात्र बतला दिया गया। व्यक्तिवाद ने अपने विचार के उग्र परिणाम को चेतनाद्वैत के रूप में उपस्थित किया था, परन्तु समष्टिवाद (**Collectivism**) से सब कुछ जड़वाद और वह भी क्रिया द्वन्द्वों के प्रवाह में परिवर्तित कर दिया। यह प्रधान दोष है जिसके निवारण के लिए ऋषि ने कहा –

“संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति करना।”

व्यक्ति-समाज दोनों का यहां पर समन्वय है। इसमें विश्व-भावनावाद का बीज छिपा है और मानवता का पुट है। इसके अनुसार व्यक्ति विश्व के विशाल मानव-परिवार का प्रतीक है, और समाज उसके अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति और दूसरे व्यक्तियों के लिए सहानुभूति रखते हुए उस विशाल मानव-परिवार के पारिवारिक जीवन को बनाये रखने की भावना तथा आत्मिक उत्कृष्टता पर पहुंचने की भावना का मूर्तरूप है। समाज के व्यक्ति अपने उत्कृष्ट ध्येय पर पहुंचे और व्यक्ति से समाज उन्नत हो। दोनों का समन्वय ही श्रेयस्कर मार्ग है। संसार की पहेली का इतिहास केवल (**Materialistic**) नहीं, अपितु प्रकृति पुरुषात्मक (**Spirituo- Materialistic**) है। इसमें से किसी एक को मानना, अन्य को न मानना, किसी पूरी सच्चाई के आधे को ग्रहण करना है। इसी प्रकार समाज का दर्शन न केवल व्यक्त्यात्मक (**Individualistic**) और न केवल समष्ट्यात्मक (**Collectivistic**) है। किसी एक को मानना वस्तुतः अर्धसत्य को मानना है।

ऋषि दयानन्द ने समाज के विषय में जो सूत्र कहे हैं, वे वस्तुतः समाज के वे दार्शनिक सिद्धान्त हैं, जिन पर समाज का निर्माण होने से व्यक्ति और समाज दोनों का उत्कर्ष होगा। मानवता और विश्व- भावनावाद का विकास होगा तथा साथ ही मानव का अन्तिम आध्यात्मिक ध्येय भी पूरा होगा। वह समाज, समाज नहीं जिसमें व्यक्ति को उत्कर्ष का अवसर न मिले, और वह व्यक्ति, व्यक्ति नहीं, जो समाज के लिए भावना न रखता हो। ❑

वेदों में भक्ति का स्वरूप

दीनानाथ सिद्धान्तालङ्कार
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

वेदों के सम्बन्ध में कई प्रकार की मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इनमें एक यह भी है कि – **"वेदों में भक्ति-प्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं हैं, जितनी अन्य ग्रन्थों में, विशेषतः मध्यकालीन भक्तों की वाणी में है।"**

एक धारणा यह भी है कि – **"वेद मन्त्र इतने क्लिष्ट हैं कि सामान्य जन के लिये उनका समझना कठिन होता है।"**

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि यदि संस्कृत भाषा का और विशेषतः वैदिक संस्कृत का तनिक भी ज्ञान हो, तो वेद के अधिकांश मन्त्र सहज ही समझ में आ जाते हैं। वेदों की संस्कृत भाषा उस संस्कृत से कई अंशों में भिन्न है, जिसे हम बाल्मीकि रामायण, महाभारत और गीता में पढ़ते हैं। उदाहरण के लिये **'देव'** शब्द का तृतीया विभक्ति का बहुवचन प्रचलित संस्कृत में **'देवैः'** होता है, पर वेद में प्रायः **'देवेभिः'** का प्रयोग आता है। वेद को वेद से समझने का और पूर्ण श्रद्धा के साथ उसका अध्ययन करने का यदि प्रयत्न किया जाय तो निश्चित रूप से सारी दिक्कतें दूर हो सकती हैं। गुरुजनों और विद्वत्पुरुषों से नम्रतापूर्वक शङ्का-निवारण तो करते ही रहना चाहिये।

भक्ति का स्वरूप –

वेद वस्तुतः भक्ति के आदिस्रोत हैं। यदि हम भक्ति का स्वरूप समझ लें, तो वेदों में वर्णित भक्ति-तत्त्व को समझने में सुगमता होगी। भक्ति का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है – **"सा परानुरक्तिरीश्वरे"** अर्थात् परमेश्वर में अविचल और ऐकान्तिक भावना तथा आत्म-समर्पण की उत्कट आकांक्षा को **'भक्ति'** कहा गया है। हमें यह भी नहीं भूलना कि 'भक्ति' शब्द **'भज सेवायाम्'** धातु से **'क्तिन्'** प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है। अर्थात् भक्ति हृदय की उस भावना का नाम है, जिसमें साधक जहाँ एक ओर पूर्ण भाव से ब्रह्म में अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्मार्पण करने वाला हो, वहां साथ ही ब्रह्म द्वारा रचित इस सारी सृष्टि के प्रति सेवा की भावना रखने वाला भी हो। यजुर्वेद के शब्दों में –

दृते॒ दृꣳह॑ मा मि॒त्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ समी॑क्षन्ताम्। मि॒त्रस्या॒ऽहं चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ समी॑क्षे। मि॒त्रस्य॒ चक्षु॑षा॒ समी॑क्षामहे ॥ (यजुर्वेद 36/18)

भक्त कहता है – 'हे समर्थ ! मुझे शक्ति सम्पन्न बनाओ। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखने वाले हों। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।'

भक्ति और शक्ति का अटूट सम्बन्ध –

वैदिक भक्ति की एक और विशेषता है, आगे चलकर जिसका मध्यकाल में लोप हो गया। वह यह कि वेद से आपको ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलेगा, जिसमें उपासक, साधक अथवा भक्त अपने को अधम, नीच, पापी, खल, दुष्ट तथा पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभु को किसी प्रकार का उपालम्भ दे। इसका कारण यह है कि वेद में **'भक्ति'** के साथ **'शक्ति'** का सतत और अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है।

वेद के द्वारा प्रभु यह आदेश देते हैं कि निर्बल और अशक्त आत्मा सच्चा भक्त नहीं बन सकता। इसलिये वेद में भक्त प्रभु को तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्ति का अजस्र भण्डार मानता हुआ उससे तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्ति की बारम्बार कामना करता है –

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥

(यजुर्वेद 19/9)

वेद का भक्त कितना असक्त और कितना आत्मविश्वासी है। यह इस मन्त्र के एक अंश में देखिये –

कृतं मे दक्षिणे हस्ते
जयो मे सव्य आहितः ॥

(अथर्व0 7/50/8)

मेरे दायें हाथ में कार्यशक्ति है और बायें हाथ में विजय है।

प्रभु के प्रति प्रणमन की भावना –

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेद में ब्रह्म के प्रति साधक की प्रणमन, विनम्रता और आत्म-लघुता की भावना का निराकरण है। निम्नलिखित मन्त्रों में भक्त कितनी तन्मयता के साथ विशाल प्रभुचरणों में अपने को नतमस्तक हो उपस्थित करता है, इसका सम्यक् निदर्शन हुआ है –

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्व1र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथर्व0 10/8/1)

भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान् का जो प्रभु है सबका स्वामी।
विश्व व्योम में व्याप्त हो रहा, जो त्रिकाल का है स्वामी॥
निर्विकार आनन्दकन्द है, जो कैवल्यरूप सुखधाम।
उस महान् जगदीश्वर को है, अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथर्व0 10/7/32)

सत्यज्ञान का परिचायक यह, पृथ्वी जिसके चरण महान्।
जो इस विस्तृत अन्तरिक्ष को, रखता है निज उदर समान।
शीर्ष तुल्य है जिसके शोभित, यह नक्षत्रलोक द्युतिमान।
उस महान् जगदीश्वर को है, अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

प्रभु से हम क्या माँगें, यह निम्न मन्त्र में देखिये –

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि ॥

(ऋ0 1/86/10)

हे प्रियतम ! हृदय-गुहा के अन्धकार को विलीन कर दो, नाशक-पाप को भगा दो और हे ज्योतिर्मय ! हम जिस ज्योति को चाहते हैं, वह हमें प्रदान करो।

शरणागति की भावना –

भगवान् अशरणों के शरण हैं। उन्हीं की कृपा से मेरा उद्धार हो सकता है –

त्वमंग्ने व्रतपा अंसि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेष्वीड्यंः॥

(ऋ0 8/11/1)

चतुर्दिक तुम्हीं नाथ छाये हुए हो,
मधुर रूप अपना बिछाये हुए हो।
तुम्हीं व्रत-विधाता, नियन्ता जगत् के,
स्वयं भी नियम सब निभाये हुए हो॥
प्रभो ! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी,
तुम्हीं दूर, तुम पास आये हुए हो।
करें हम यजन, पुण्य शुभकर्म जितने,
सभी में प्रथम स्थान पाये हुए हो॥
तुम्हारी करें वन्दना देव ! निशिदिन,
तुम्हीं इस हृदय में समाये हुए हो॥

निराश मत हो मानव –

जिस समय मानव की जीवन-नैया इस भवसागर में डाँवाडोल होती है, वह निराश हो जाता है, उस समय करुणासागर भगवान् आशा की प्रेरणा देते हैं –

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षंतातिं कृणोमि। आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वंदासि॥

(अथर्व0 8/1/6)

किसलिये नैराश्य छाया ?
किसलिये कुम्हला रहा फूल-सा चेहरा तुम्हारा॥
तुम स्वयं आदित्य, दुर्दिन का न गाओ गान रोकर।
हे सुदिव्य महारथी ! संकल्प एक महान् होकर॥
फिर बढ़ो फिर-फिर बढ़ो चिरतक बढ़ो अभिमान खोकर।
फिर तुम्हारी हार भी विख्यात होगी जीत बनकर॥
फिर तुम्हारी मृत्यु गूँजेगी अमर संगीत होकर।
काल यह सन्देश लाया, किसलिये नैराश्य छाया॥

प्रभु का यह विश्व रमणीय है –

वेद का भक्त इसे रमणीय समझता है और वास्तविक समझता है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है –

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः॥

(सामवेद 616)

वसन्त रमणीय सखे, ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे, शरद रमणीय है॥
हेमन्त रमणीय सखे, शिशिर रमणीय है।
मन स्वयं भक्त बने, विश्व तो रमणीय है॥

वेदों में भक्ति के उदात्त और पुनीत उद्‌गार अनेक स्थलों पर अङ्कित हैं। हमने यहां पर कुछ उदाहरण ही उपस्थित किये हैं। इन्हें पढ़कर यदि हमारी वेदों में श्रद्धा बढ़े, उसके स्वाध्याय की ओर प्रवृत्ति हो और वेदों की रक्षा तथा उसके प्रचार की ओर हम लग सकें, तो निश्चय ही हमारा अपना, हमारे देश का और विश्व का कल्याण होगा। मङ्गलमय भगवान् ऐसी कृपा करें। ❐

*** वेद का ज्ञान नित्य है ***

जैसे इस कल्प में सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में है, इसी प्रकार से पूर्व कल्प में थे और आगे भी होंगे; क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की है कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है, इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती। इस कारण से वेदों को नित्य स्वरूप ही मानना चाहिये। (महर्षि दयानन्द)

विवाह की आवश्यकता

जगदीश प्रसाद माथुर
वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

महात्मा टाल्सटाय के मतानुसार स्त्री और पुरुषों में केवल शारीरिक भेद ही नहीं है, उनके नैतिक गुणों तथा अन्य कई बातों में भेद है, जो पुरुषों में **पौरुषत्त्व** और स्त्रियों में **स्त्रीत्त्व** कहे जाते हैं। एतदर्थ, केवल शारीरिक सम्मिलन मात्र के लिए ही नहीं; बल्कि इन भिन्न-भिन्न गुणों के भेद के कारण भी उनमें पारस्परिक आकर्षण होता रहता है। स्पष्ट शब्दों में - कोई भी प्राणी पूर्ण नहीं हो सकता। यदि वह पुरुष-श्रेणी में पैदा होता है तो स्त्री-श्रेणी के गुणों से सर्वथा वञ्चित रहता है और यदि स्त्री-श्रेणी में जन्म लेता है, तो पुरुष-श्रेणी के गुणों से सर्वथा रहित रहता है। तात्पर्य यह कि इन दोनों श्रेणियों (स्त्री-पुरुष) की शारीरिक रचना इस प्रकार की है कि उनकी अपूर्णता साधारण नहीं मानी जा सकती। दोनों के अपूर्णाङ्गों के अन्दर एक-दूसरे को देखकर रागात्मक भावों का उदय होना स्वाभाविक ही है। उस स्वाभाविक अनुराग को दो प्राणियों तक सीमाबद्ध रखने के लिए ही विवाह-प्रणाली का आविष्कार हुआ है। अस्तु।

विवाह **दो अर्द्धाङ्गों का समीकरण है, उनकी अपूर्णताओं का परस्पर पूरक है। दो आत्माओं - स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का एकीकरण है।**

प्रकृति ने स्त्री-पुरुष में काम की प्रवृत्ति उत्पन्न की है। उस प्रवृत्ति की प्रेरणा से पुरुष को स्त्री की, और स्त्री को पुरुष की आवश्यकता होता है। वे दोनों स्त्री-पुरुष परस्पर उस प्रकृति को शान्ति देते हैं। इस प्रकार दोनों का सम्पर्क और सहयोग एक-दूसरे को सुख और शान्ति प्रदान करता है। इसका कारण यही है कि स्वभावतः स्त्री, पुरुष की तरफ झुकती है और पुरुष, स्त्री की ओर आकर्षित होता है। वयस (युवावस्था) प्राप्त होने पर दोनों प्राणी जब तक एक-दूसरे से सहयोग-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेते, तब तक बड़े व्याकुल (संतप्त) रहा करते हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष विवाह-विधि से एक-दूसरे का प्राप्त कर अपने को पूर्ण करने की मौन-मूक किन्तु तीव्र मीठी पीड़ा अनुभव करता है, तथा विवाह के संस्कार द्वारा इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न या अभिलाषा भी। यह आकर्षण शारीरिक तथा आध्यात्मिक सम्मिलन के लिये एक-सा झुकाव रखता है। इस आकर्षण के मिलन को पवित्र तथा धार्मिक बनाने के लिये विवाह का रूप दिया गया है। महर्षि टाल्सटाय के शब्दों में - "प्रेम - **वैषयिक प्रेम,** एक जबरदस्त शक्ति है। यह दो भिन्न या असमान लिङ्ग के प्राणियों में उत्पन्न होता है; जो सम्मिलित नहीं हुए हैं, यह विवाह की ओर उन्हें ले जाता है।"

'स्त्री-समस्या' के सिद्ध-हस्त लेखक के शब्दों में शरीर रूपी मन्दिर में बैठी हुई दो आत्माएं जब एक-दूसरे का आह्वान करती हैं, तब विवाह दौड़कर उन्हें मिला देता है।

विवाह द्वारा एक अर्द्धाङ्ग का दूसरे विरुद्ध अर्द्धाङ्ग से एकीकरण कर देना इसलिये आवश्यक हो जाता है, कि दोनों श्रेणियों - स्त्री-पुरुष के बीच का प्राकृतिक आकर्षण इतना प्रबल और सहज रहता है कि एक श्रेणी का प्राणी दूसरी श्रेणी के प्राणी को देखकर प्रायः उससे मिलने के लिये पूर्ण उत्कण्ठित हो उठता है। इस उत्कण्ठा पर नियन्त्रण रखते हेतु, दो विपरीत श्रेणी के अर्द्धाङ्गों को विवाह-विधि द्वारा पूर्ण कर दिया जाता है।

वैवाहिक मिलन स्त्री और पुरुष को, विकासोन्मुख युवक और युवती को अत्यन्त गम्भीर, विशाल और मधुर बना देता है। स्त्री और पुरुष का आकर्षण विवाह के पश्चात् प्रेम को स्थायी बनाता है और वही स्थायी होकर अन्त में परमात्मा की ओर अग्रसर होता है।

तात्पर्य यह है कि विवाह-संस्कार द्वारा स्त्री-पुरुष का सम्मिलन मानव-जीवन के उच्च विश्वास की एक आवश्यक शर्त है। विवाह समस्त वयस्क स्त्री-पुरुषों के लिए एक प्राकृतिक अवस्था है; किन्तु केवल शारीरिक सम्मिलन, वासना तृप्ति तक ही विवाह का उद्देश्य सीमित नहीं होता, यह तो एक उपकरण मात्र है। शारीरिक सम्बन्ध के साथ-साथ जब मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक सम्बन्धों का प्राबल्य होता है, तब ही वास्तव में वह विवाह कहलाना चाहिए।

टाल्सटाय ने एक जगह लिखा है - "यह कोई अनिवार्य नहीं कि विवाहित दम्पती का शारीरिक सम्बन्ध होना जरूरी है। यह सम्मिलन केवल आध्यात्मिक भी हो सकता है।"

विवाहेच्छु स्त्री-पुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति तथा योग्यायोग्यता के विवेकानुसार विवाह या तो शारीरिक अथवा आध्यात्मिक सम्मिलन के नज़दीक पहुंचा सकता है; पर यह तो निर्विवाद समझिये कि वह सम्मिलन जितना ही अधिक आध्यात्मिक होगा, उतना ही सन्तोष देने वाला होगा। वासना जितनी ही बढ़ेगी, हम सन्तोष से उतने ही दूर हटते जायेंगे।

स्त्री-पुरुष दोनों के अन्दर शारीरिक विभिन्नताओं के अलावा अनेक प्रकार की मानसिक विभिन्नताएं भी रहती हैं। मानव जीवनोपयोगी कई विशिष्ट गुण केवल नर-श्रेणी में होते हैं। उनसे भिन्न कई विशिष्ट गुण केवल नारी-श्रेणी में ही होते हैं। परस्पर अभावपूर्त्ति के लिये ही स्त्री-पुरुष परस्पर लालायित रहते हैं। जैसे - बल-विक्रम, साहस, धैर्य आदि गुणों के लिये स्त्री, पुरुष की ओर तथा स्नेह, ममता, सहानुभूति, सहृदयता, कोमलता, दया आदि गुणों के लिय पुरुष, स्त्री का इच्छुक रहता है। इन गुणों की वजह से दोनों के बीच में एक स्वाभाविक मानसिक आकर्षण होता है। यह आकर्षण शारीरिक आकर्षण की तरह उत्तेजक और मादक नहीं होता; बल्कि उसकी अपेक्षा अधिक स्थिर और दृढ़ होता हे। यह मानसिक सम्बन्ध एक गम्भीर सम्बन्ध होता है, जो जीवन के वसन्तकाल से लेकर उसके पतझड़ तक

एक-सा स्थायी, सुन्दर और स्थिर रहता है, विपरीत इसके, शारीरिक सम्बन्ध एक उद्भ्रांत नशे की तरह होता है।

शारीरिक सम्बन्ध का देवता **काम** होता है और मानसिक सम्बन्ध का देवता **प्रेम**। शारीरिक सम्बन्ध को विशेष महत्त्व देनेवाले का प्यार उन विकारों से सम्बन्धित आनन्दानुभव के प्रति ही हुआ करता है। विपरीत इनके मानसिक, आध्यात्मिक सम्बन्धेच्छु का ही निस्वार्थ प्यार अपनी प्रेयसी के प्रति होता है। एतदर्थ, शारीरिक प्रेम की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रेमार्पण कर अपने आध्यात्मिक अभावों का दूसरे-विरुद्ध अपूर्णाङ्ग से विनिमय कर, संसार तथा ईश्वर के प्रति पूर्ण कर्त्तव्य-पालन में सहायक होना ही विवाह की वास्तविक आवश्यकता का कारण है।

यह आध्यात्मिक अभावपूर्त्ति के हेतु विवाह केवल मनुष्य-समाज ही में होता है, अन्य प्राणियों में नहीं। अन्य सब प्राणियों में नर-मादा का सम्बन्ध केवल काम-वासना तृप्ति तक ही परिमित होता है। यह इच्छा पूर्ण होते ही उनका पुनः कोई सम्बन्ध नहीं रहता; किन्तु सभ्य मनुष्य समाज विशेषतः हिन्दू जगत् में आयु पर्यन्त यह आध्यात्मिक किंवा शारीरिक सम्बन्ध स्थायी रहता है। यहां तक कि बुढ़ापे की जर्जरित अवस्था में काम-वासना के आमूल नष्ट हो जाने पर भी, यह सम्बन्ध ज्यों का त्यों स्थिर रहता है।

विवाह-प्रथा मनुष्य की असंयत काम-वासना सदृश पशुवृत्ति पर एक प्रकार का संयम स्थापित कर देती है। विवाह का भारी बन्धन न होता तो कामवृत्ति के कारण समाज में भारी अव्यवस्था होती, और पति-पत्नी व्रत के मर्यादित क्षेत्र में मानवी दुर्बलता की तृप्ति न होने से समाज में नाम-मात्र को भी बलवान् और प्रतिभाशाली सन्तान न मिलती। तथा समाज में चारों ओर घोर अशान्ति, निर्लज्जता तथा व्यभिचार का वीभत्स काण्ड दृष्टिगोचर होता। विवाह-संस्कार की प्रणाली ने ही सब मानव-समाजों को इतनी भीषण और निकृष्ट कामुकता से बचा रखा है।

संसार के समस्त धर्मशास्त्र इस विषय में एक मत हैं कि सब दुर्वृत्तियों से कामवृत्ति का मनुष्य में प्राबल्य रहता है। यदि इस पर विवाह का अंकुश न रखा गया होता तो समाज में भारी अव्यवस्था और अनेक रोगों का अवश्य प्रादुर्भाव पाया जाता।

विवाह का सुन्दर सीमित क्षेत्र होने पर भी तो कई निकृष्ट मानव कामोन्मत्त होकर नाना प्रकार के अनाचार, व्यभिचार और बलात्कार करते पकड़े जाते हैं। यदि विवाह का मर्यादित क्षेत्र न होता, तो न जाने प्रकृति इनसे कितने निकृष्ट कार्य कराती। लाला लाजपतराय के शब्दों में - कामुकता दुनिया में से उस समय तक दूर नहीं हो सकती, जब तक मनुष्य मनुष्य है और स्त्रियां स्त्रियां हैं। साधारणतया मनुष्य-मात्र की प्रकृति ही ऐसी है, जो जहां कहीं भी सौन्दर्य, लावण्य और तारुण्य की सुन्दर अग्नि-शिखा-सी देखते ही पतंग की तरह उसमें कूदने को लालायित हो उठती है। लेकिन, विवाह ने संयम, ब्रह्मचर्य, विचार और स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए, दो अर्द्धाङ्गों का एकीकरण कर, दोनों की

प्राकृतिक संतप्तता को तृप्त कर समाज में बलवान् और प्रतिभाशाली सन्तान को उत्पन्न करने का मार्ग प्रशस्त करके शान्ति स्थापित कर, इसकी सीमा उल्लंघन करने को अनाचार घोषित किया है।

संक्षेप में विवाह-पद्धति द्वारा मनुष्य के कामोद्रेक से उत्पन्न हो सकने वाली समस्त अव्यवस्थाओं पर एक बन्धन डाल दिया जाता है। कामजनित अव्यवस्थाओं को दूर करके समाज में सात्त्विक प्रेम तथा राष्ट्रहित के लिये स्वस्थ सन्तान उत्पन्न करने के हेतु से ही विवाह-प्रणाली स्थापित करके संसार के सब मनुष्य-समाजों ने काम-वासना पर संयम कायम कर लिया है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि एक स्त्री का अनेक पुरुषों से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से सम्पर्क रखना सर्वथा अकल्याणकर होता है; परन्तु स्त्री-पुरुष का सम्मिलन होना भी प्रकृति की आवश्यक प्रेरणा से स्वाभाविक और अनिवार्य है। एतदर्थ वह सम्मिलन विवाह के रूप में न्याय और आचारयुक्त स्वीकार किया गया है। यह विवाह **धर्म** माना गया है। विवाह से मनुष्य में संयम और लगन आती है, दुनिया में कुछ कर गुजरने का भाव आता है। विवाहित स्त्री-पुरुष जैसे अपने जीवनसङ्गी का पतन नहीं बर्दाश्त कर सकते; आशा की जाती है कि इसी प्रकार वे अपने से भिन्न जीवनसङ्गियों का पतन करने में भी भागीदार न बनेंगे। यही कारण है, आज दिन भी कुआरों से विवाहितों के चरित्र पर अधिक विश्वास किया जाता है। इसलिये ही विवाह को मानव-जीवन में **धर्म** का रूप दिया गया है।

जीवन को देश, समाज और राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी बनाने के लिये ही विवाह की व्यवस्था की गई है। जीवन उपयोगी बनता है **सदाचार** से। और सदाचार का प्रेरक, प्रवर्त्तक और संरक्षक है - **विवाह**। विवाह के हो जाने पर स्त्री और पुरुष के जीवन में संयम और नियम का जन्म होता है। यह संयम-नियम ही सदाचार का मूलकारण है। एक विद्वान् का कथन है -

"Marriage is advantageous largely because it saves a Man from the diseases and excesses associated with prostitution as well as from other evils."

अर्थात् - विवाह अत्यन्त उपयोगी और लाभकर होता है; क्योंकि वह मनुष्य की उन अवस्थाओं से रक्षा करता है जो उसमें दुराचार के कारण उत्पन्न हो सकती हैं।

समाज-विज्ञान के अनुसार विवाह इसलिये भी आवश्यक है कि इसके द्वारा मनुष्य की स्वाभाविक रूपेण अनिवार्य काम-वासना की तृप्ति जैसी भयङ्कर प्रवृत्ति में से भी कई ऐसे सुन्दर फलों का जन्म होता है, जिससे समाज-शरीर का पालन और उसके जीवन का पोषण होता है। इन्हीं सब कारणों से समाज में विवाह-पद्धति आवश्यक समझी गई है। संसार की समस्त सभ्य और असभ्य मनुष्य-श्रेणियों में इसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। प्रत्येक समाज के लिये इसका एक आवश्यक प्रणाली होना, इसकी सार्वभौमिक उपादेयता ही है।

विवाह हमें एक ऐसा साथी देता है, जिसे मृत्यु के सिवा दूसरी कोई भी घटना अलग नहीं कर सकती। दोनों अर्द्धाङ्गों के परस्पर वाञ्छित पूर्ण सहयोग से उस मैत्री में एक विशेष शक्ति आ जाती है। उन्हीं परस्पर अभावों के पूरकों को एक दूसरे के लिये निःस्वार्थ काम करने, परस्पर एक-दूसरे के लिये त्याग और कष्ट सहन करने में जो स्वर्गोपम आनन्दानुभव हो सकता है, उसकी तुलना कहां ? इसलिये साधारण अवस्था में एक सच्चा जीवनसङ्गी प्राप्त करने के लिये विवाह अत्यन्त आवश्यक है। चाहे विवाह जीवन का सर्वोत्तम आदर्श न हो; परन्तु विवाहित स्थिति जीवन का स्वाभाविक नियम अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं। विवाह हो जाने से पुरुष और स्त्री के जीवन में संयम तथा नियम का जन्म होता है। यह संयम-नियम ही सदाचार का मूल कारण है। एक भारतीय विद्यालय की परोपकारी अंग्रेज संचालिका ने अध्यापकी के लिये एक नौजवान का आवेदन-पत्र उनके सदाचार के केवल इसी प्रमाण पर कि वे विवाहित हैं, स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर एक बालिका-विद्यालय के मन्त्री ने किसी महिला को अध्यापकी को इसलिये अस्वीकृत किया था कि वह अधिक अवस्था होने पर भी अविवाहिता थीं।

उक्त दोनों घटनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अविवाहित स्त्री-पुरुष के आचरण पर संसार में बड़ी भारी शङ्का रहा करती है और विवाह मनुष्य के आचरण का महान् संरक्षक माना जाता है।

विवाह केवल कामुकता का ही नही; बल्कि आध्यात्मिकता का भी साधन है। सन्तति की शुद्धता के लिए भी विवाह-बन्धन की आवश्यकता होती है। हम हिन्दुओं के यहां विवाह एक धार्मिक संस्कार है; इसका उद्देश्य दो हृदयों का, दो अपूर्ण प्राणों का एकीकरण करना है। संक्षेप में विवाह जीवन का रक्षक है, एतदर्थ आवश्यक है। ❑

गृहस्थाश्रम ज्येष्ठाश्रम क्यों ?

* जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक वे समुद्र को प्राप्त नहीं होते; वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।

* जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है। अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है, इसलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता है, वह प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करे।

* जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधा गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहां से हो सकते ?

* जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय है, और जो प्रशंसा करता है, वही प्रशंसनीय है।

(महर्षि कृत 'सत्यार्थप्रकाश' चतुर्थ समुल्लास)

दिव्य दयानन्द का दिव्य चिन्तन

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री
विकासपुरी (दिल्ली)

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती दिव्य गुणों से युक्त थे। उनका व्यक्तित्व महान् एवं प्रेरक था। वे आदित्य ब्रह्मचारी, परम आस्तिक एवं अद्‌भुत योगी थे। बचपन से ही उन्हें आस्तिकता के संस्कार मिले थे और शिव भक्ति की प्रेरणा उन्हें अपने पिता श्री कर्षन जी तिवारी से प्राप्त हुई थी। शिवरात्रि के अवसर पर व्रत रखने वाले इस बालक ने देखा कि आधी रात होते-होते सभी भक्तजन निद्रा में निमग्न हो गये हैं और शिव की पिण्डी पर चूहे उछल-कूद मचा रहे हैं। इस दृश्य को देखकर उन्हें लगा कि यह सच्चा शिव नहीं हो सकता और मुझे सच्चे शिव की खोज करनी चाहिए। अपनी बहिन और चाचाश्री की मृत्यु के दृश्य ने उनके मन में यह प्रश्न उत्पन्न कर दिया कि मृत्यु क्यों होती है और इससे कैसे बचा जा सकता है? संसार में दुःख क्यों हैं और उनके परिशमन का क्या उपाय है ?

इन्हीं प्रश्नों के समाधान और सच्चे शिव की खोज में बालक मूलशङ्कर घर से निकल पड़े। उन्होंने बहुत से स्थानों का भ्रमण किया। ढ़ोंगी संन्यासियों ने उन्हें ठगने में कोई कोर कसर न छोड़ी, पर बालक मूलशङ्कर निराश नहीं हुए, अपितु सच्चे शिव की खोज और योगविद्या की प्राप्ति के लिए निरन्त प्रयत्नशील रहे। अन्ततः उन्हें कुछ ऐसे गुरु मिले कि जिन्होंने उन्हें योग के गूढ़ रहस्यों को समझाया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती दया के सागर थे। उनमें आनन्द का स्रोत निरन्तर प्रवाहित रहता था, इसलिए वे मानापमान से ऊपर उठ गये थे। कोई उनकी निन्दा करे या स्तुति, पत्थर मारे या गालियां दे, पर वे दुःखी नहीं होते थे। उन्हें सरस्वती सिद्ध थी। वे ज्ञान के अद्‌भुत भण्डार थे। स्वामी जी में मानव के प्रति करुणा का भाव चरमोत्कर्ष पर था। संन्यासी होने पर भी उन्होंने संसार के जीवों को तथाकथित वैरागियों की भांति उपेक्षित कर, दया और आनन्द के अमृत से वञ्चित नहीं रखा। सच तो यह है कि वह विश्वबन्धुत्व एवं मानवता के उद्धारकों में इस दया और आनन्द का पात्र प्राणिमात्र को बनाकर वह मूर्धन्य स्थान के अधिकारी बन गये हैं।

अनूपशहर में एक दुष्ट ने उन्हें विषयुक्त पान दिया। चबाने पर पता लगा तो उन्होंने न्योलिक्रिया द्वारा वमन कर विष निकाल दिया। वहां सैयद मुहम्मद तहसीलदार आपका भक्त था। उसने हत्यारे को पकड़कर बन्दीगृह में डालने की बात कही। स्वामी दयानन्द जी ने देव सुलभ अप्रतिम दयालुता का परिचय देते हुए यह स्मरणीय वाक्य कहा - "मैं संसार को क़ैद कराने नहीं आया हूं, अपितु क़ैद से छुड़ाने आया हूं।"

दयानन्द को न केवल वेदों के मन्त्र और सत्शास्त्रों के श्लोक कण्ठस्थ थे, वरन् उनकी तर्कणा शक्ति भी बेजोड़ थी। शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित करना किसी के लिए सम्भव नहीं था।

एक दिन अहमदगढ़ के पण्डित कमलनयन और अलीगढ़ के पण्डित सुखदेव अपने 20-25 साथियों सहित कुछ अतिक्लिष्ट प्रश्न पूछने के लिए महाराज के पास गये। उस समय महाराज कहीं गये हुए थे। थोड़ी प्रतीक्षा के पश्चात् जब स्वामी जी वहां आये, तब इन सबने अभ्युत्थानपूर्वक अभिवादन किया। महाराज आसन पर बैठकर थोड़ी देर के लिए ध्यानावस्थित हो गये, फिर आंखें खोलकर आगन्तुकों से कई बार कहा कि - "जो कुछ पूछना है, पूछ लो" परन्तु किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। तब स्वामी जी ने उपदेश देना आरम्भ किया। वे लोग सुनते रहे और 'सत्य है, सत्य है' कहते रहे। वहां से लौटते हुए मार्ग में वे लोग कहने लगे कि - 'पता नहीं दयानन्द में कौन-सी शक्ति है कि उसके समक्ष जाकर हम सबके मुंह पर ताले लग गये और हम एक भी प्रश्न न पूछ सके।

सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना स्वामी जी और पादरी पार्कर का शास्त्रार्थ है। यह शास्त्रार्थ 15 दिन तक चला और प्रतिदिन 2-3 घण्टे हुआ करता था। स्वामी जी ने शास्त्रार्थ में पादरी महोदय को निरुत्तर कर दिया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि किसी मनुष्य के द्वारा ईश्वर और मुक्ति की प्राप्ति मानना मूर्तिपूजा से भी बुरा है। एक दिन शास्त्रार्थ का विषय 'सृष्टि-उत्पत्ति' था। जब पादरी महोदय ने यह पक्ष लिया कि सृष्टि को उत्पन्न हुए पांच सहस्र वर्ष हुए हैं, तब स्वामी जी एक बिल्लौर-पत्थर उठा लाये और पूछा कि -'आप लोग साइन्स जानते हैं। यह पत्थर इस रूप में कितने वर्षों में आया होगा ?' तब उत्तर मिला - 'लाखों वर्षों में।' इस पर पादरी महोदय ने कहा कि - 'मेरा अभिप्राय यह है कि मनुष्य-सृष्टि को पांच सहस्र वर्ष हुए हैं; परन्तु स्वामी जी ने इस पर भी आक्षेप किया कि- 'सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न है, जिसमें मनुष्य भी आ गया।' इस पर पादरी जी निरुत्तर हो गये।

अपने-अपने मौला पर सबको बड़ा नाज़ है।
मेरा दयानन्द तो सबका सरताज़ है।
कहूंगा पीरों-पैग़म्बरों से तुम रुतवे में हारे हो।
दयानन्द चौदहवीं का चांद, तुम सब सितारे हो॥

अपने त्याग और तपस्या के बल पर दयानन्द ने ऋषित्व प्राप्त किया था, अतः उन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती ही कहना सार्थक है।

पतञ्जलि ऋषिकृत महाभाष्य में ऋषियों की संख्या 88000 बतायी गई है। (**अष्टाशीति सहस्राणि ऋषयः बभूवुः**) उनमें से केवल आठ ऋषियों ने गृहस्थ-धर्म का निर्वाह किया। उस समय ऋषि बनना आसान था; क्योंकि ऋषिपुत्र भी ऋषि ही होते थे। स्वामी दयानन्द के साथ ऐसा नहीं था। परम आस्तिक होते हुए भी उनके पिताश्री ऋषि नहीं थे। उनकी गहन साधना, त्याग, तपस्या एवं वेदों में गहरी निष्ठा के कारण दयानन्द ने न केवल ऋषित्व प्राप्त किया, अपितु महर्षि बने। वेद को स्वतः प्रमाण मानकर ऋषिवर दयानन्द ने अन्य शास्त्रों को परतः-प्रमाण माना। वेदों का तर्क सङ्गत भाष्य कर,

उन्होंने अनेक भ्रान्तियों का निवारण किया। युगनिर्माता वेदोद्धारक, समाज-सुधारक का जन्म भारतीय जन-जीवन के सुधार के निमित्त हुआ था। जिस समय दयानन्द जी का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारत की दशा शोचनीय थी। उस समय देश में चारों ओर अन्धकार एवं अशान्ति के बादल मडरा रहे थे। जिधर भी देखो उधर त्राहिमाम् का करुण-क्रन्दन सुनाई दे रहा था। देश की सामाजिक दुरावस्था, धार्मिक विभिन्नता, बहुदेवतावाद, छूआछूत-भेदभाव के परिणाम स्वरूप भारतवर्ष शताब्दियों से जर्जरित हो रहा था। मानव-मानव का रक्त पीने के लिए तैयार था। योग के नाम पर ढ़ोंग, ईश्वर के नाम पर पाखण्ड, धर्म के नाम पर दुकानें खोली जा रही थीं। गृहदेवियां तथा शूद्रों को समाज में हीनदृष्टि से देखा जाता था। 'वेद' किस चिड़िया का नाम है, किसी को पता नहीं था।

भारतीय संस्कृति या इसके प्राचीन साहित्य को पढ़ें तो पता लगता है कि -

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेद शब्देभ्यः एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

(मनु0 1/21)

अर्थात् - सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने वेद के माध्यम से सबको नाम-कर्मादि की शिक्षा दी है।

जहां अपौरुषेय वेदों को मध्यकालीन स्वार्थी व्यक्तियों ने जनता-जनार्दन से दूर रख, अनुपयोगी एवं अश्रद्धेय बनाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। 'त्रयो वेदस्य कर्त्तारः धूर्तभाण्ड निशाचराः' ऐसी अनर्गल किंवदन्तियां प्रचलित थीं। वेद का पढ़ना तो दूर, सुनना भी प्राणों के लिए घातक था। ऐसी विकट परिस्थिति में सूर्य के समान तेजस्वी ब्रह्मचारी देवदयानन्द ने अनेक मत-मतान्तर रूपी पापान्धकार को नष्ट करने के लिए तथा वेदों का सन्देश देने के लिए ऋषि शास्त्रार्थरूपी रणाङ्गन में आये थे। ऋषि दयानन्द साहस और धैर्य से कष्टों को हंसते हुए सहन करके सर्वत्र जनहित कल्याणी की दुन्दुभि बजाते रहे। उन्होंने वेदों के प्रमाण देते हुए ललकारते हुए कहा -

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳫंशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ (यजु0 26/2)

अर्थात् - वेद पढ़ने और पढ़ाने का सब मनुष्यों का अधिकार है। चाहे स्त्री हो या पुरुष, सभी वेद को पढ़के तदुक्त आचरण कर सकते हैं।

और ये वाक्य कहे - **"सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणाम्"** अर्थात् - विदुषी स्त्रियां ही समाजरूपी घर की नौका हैं। इस प्रकार का मार्मिक सन्देश राष्ट्र को स्वामी जी ने दिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल नहीं किया, अपितु वेदों की प्रतिष्ठा में जीवन न्यौछावर कर दिया। ऋषि कहते हैं कि संसार को लाभ पहुंचाना ही मुझको चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है। परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्सन्देह इस आर्यावर्त्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिसे मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा।

महर्षि दयानन्द ने बालशिक्षा पर बल दिया, बालविवाह का विरोध किया। नारीशक्ति का महत्त्व बताते हुए नारी शिक्षा को अत्यावश्यक बताया। समाज का निर्माण करती है नारी, श्रद्धा और सम्मान की अधिकारिणी है, ताड़न या उत्पीडन की नहीं। विधवा-विवाह को वेदानुकूल बताया। घृणित, सतीप्रथा का विरोध किया। राष्ट्र में स्वतन्त्रता का अलख जगाया। स्वराज्य के प्रबल समर्थक महर्षि दयानन्द क्रान्तिकारी थे तथा भारतीय स्वाधीनता संग्राम में भी उनका बहुत बड़ा योगदान है। गान्धी और तिलक से पहले दयानन्द जी ने सुराज और स्वराज्य का नारा दिया। ऋषि ने ही अपने शिष्य श्यामजीकृष्ण वर्मा द्वारा देश की स्वतन्त्रता के लिए अनुपम अग्नि प्रचण्ड की थी। देव दयानन्द के ग्रन्थों में स्वतन्त्रता की इच्छा और प्रेरणा कूट-कूटकर भरी हुई है। हम यहां केवल दो उद्धरण प्रस्तुत करते हैं -

"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य-प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो है सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

(सत्यार्थप्रकाश 8वां समुल्लास)

"हे प्रभो ! आप 'वरुण' सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो, सो हमको वरराज्य, वर विद्या और वरनीति देओ।" (आर्याभिविनय)

स्वामी जी निडर, सत्य के पोषक थे। भय शब्द से उनका परिचय नहीं था। उनकी सत्यवादिता और निर्भीकता ने समाज में प्राण फूंक दिया।

बर्फ का पत्थर इरादे तोड़कर गलता रहा,
रोशनी और धूप देकर सूरज सदा ढलता रहा।
गज़ब का अन्दाज़ था अय ऋषि दयानन्द तेरा,
आंधियां चलती रहीं, तू दीप बन जलता रहा॥

संसार में जितने भी मत हैं, उनमें एकपक्षीय भावना है। उनके पन्थ के प्रचार के निमित्त किसी न किसी व्यक्ति का नाम लिया जाता है, जो उसका प्रवर्त्तक माना जाता है। सर्वविदित है कि मानव का ज्ञान स्वल्प है, उसके चिन्तन की सीमा है, उसे वह दृष्टि नहीं मिलती जो ईश्वर को और उसकी सृष्टि को समग्रता से देख सके। वेद का जहां तक प्रश्न है किसी व्यक्ति विशेष से वह जुड़ा हुआ नहीं है। आस्तिक आर्यों का यह विश्वास है कि वेद परमात्मा का ज्ञान है, अन्य मतावलम्बियों ने पन्थाई के सूत्रधारों को आगे रखकर ऐसा लगता है कि उनके गुणों का व्यक्तिरूप में गान किया है और यत्र-तत्र उनमें कल्याणकारी का भाव दृष्टिगोचर होता है, तो वह भी गौणरूप में है; परन्तु वेद में जो सन्देश है वो किसी काल और प्रदेश की इयत्ता के अधीन नहीं है, वह सार्वभौम

और सार्वकालिक है। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज का प्रथम नियम बनाकर जहां तक ज्ञान के आदि-स्रोत होने का प्रश्न है, ईश्वर के वर्चस्व को अकाट्यरूप से प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने लिखा है - "सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।" ये नियम इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि ऋषि को गुरुडम से कितनी घृणा थी और हमारी सम्मति से ये नियम गुरुडम की नींव पर प्रबलतम आघात है। महर्षि दयानन्द का आर्यों को सन्देश -

समाधि न मेरी कहीं तुम बनाना,
न चद्दर न तुम फूलमाला चढ़ाना।
न पुष्कर, गया अस्थियां लेके जाना।
न गङ्गा में तुम मेरी अस्थि बहाना।
ये झंझट न तुम व्यर्थ के मोल लेना।
मेरी अस्थियां खेत में डाल देना।
कि जिससे मेरी अस्थियां खाद बनके।
कभी काम आयें कृषक दीन जन के॥

यज्ञों में दी जाने वाली पशुबलि का प्रबल विरोध करते हुए ऋषि ने पूर्ववर्त्ती भाष्यकारों के ऐसे शब्दों का शास्त्रानुमोदित, तर्क सङ्गत अर्थ दिया। जैसे - **"अश्वो वै अन्नः"** अर्थात् अश्वमेध यज्ञ में अश्व की बलि का विधान नहीं है, अपितु विशिष्ट अन्नों की आहुतियों का विधान है। संस्कृत के उद्भट विद्वान् होते हुए भी ऋषि दयानन्द हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने न केवल अपना जीवन-चरित्र हिन्दी में लिखा, वरन् वेदों के भाष्य भी हिन्दी में किये। श्री केशवचन्द सेन की प्रेरणा से उन्होंने अपने प्रवचन भी हिन्दी में दिये, ताकि जन-सामान्य उनसे लाभान्वित हो सके। गुजरात के महाकवि श्री रमणलाल वसंत देसाई ने एक बार कहा था - 'जिस क्षण देह में दुर्बलता प्रतीत हो, उसी क्षण एक महान् विशालकाय सन्यासी का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे मन में शिथिलता या कायरता का प्रवेश हो, उसी क्षण जीवन और उत्साह से ओतप्रोत उस तेजस्वी देशभक्त का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे हृदय में मोह और विलास का साम्राज्य प्रवृत्त हो, उसी क्षण धन को ठोकर मारनेवाले उस नैष्ठिक ब्रह्मचारी की ओर दृष्टि करो। अपमान से आहत होकर जिस क्षण तुम नज़र ऊंची न उठा सको, उसी क्षण हिमालय के समान अडिग और उन्नत व्यक्ति के ओजस्वी मुख को अपनी कल्पना में उपस्थित करो। मृत्यु का वरण करते हुए डर लगे तो उस निर्भयता की मूर्ति का ध्यान करो। द्वेषभाव से खिन्न होकर जब तुम्हें अपने विरोधी को क्षमा करने में हिचकिचाहट हो तो उसी क्षण विष पिलाने वाले को आशीर्वाद देते हुए एक राग-द्वेष मुक्त गुजराती संन्यासी को याद करो।' वह व्यक्ति महान् आत्मा **महर्षि दयानन्द** है। यह गौरवशाली पुरुष भारतीय महापुरुषों में अग्रस्थान पर विराजमान है।

महर्षि प्रभावशाली प्रवचनकर्त्ता ही नहीं, उच्चकोटि के लेखक भी थे। उनके दिव्य चिन्तन की जानकारी उनके ग्रन्थों व वेदभाष्य से मिलती है। दयानन्द सूर्य के समान तेजस्वी थे, किन्तु सूर्य सायंकाल के समय ढल जाता है, इस दृष्टि से वे सूर्य से विशिष्ट थे। दिव्य दयानन्द का व्यक्तित्व एवं कृतित्व अनूठा एवं निराला था। ❐

बच्चों के विकास में समझदारी दिखायें

अश्विनी केशवानी
(दिल्ली)

गत दिवस जब मैं कॉलेज से घर लौटा और चाय की चुस्की ले रहा था कि तभी तृप्ति के अचानक रोने की आवाज़ आई। मैं दौड़कर कमरे में गया तो देखा कि वहां तृप्ति और टीसू आपस में लड़ रहे हैं। टीसू, तृप्ति के बाल पकड़कर खींच रहा था और तृप्ति रोये जा रही थी। मैंने दोनों बच्चों को लड़ने से मना किया और तृप्ति के बाल छुड़वा दिये। फिर तो टीसू बिफर गया और रैक में रखी पुस्तकें फैंकने लगा तथा पेपर फाड़ने लगा। मुझे गुस्सा आ गया और न चाहते हुए भी मेरे मुंह से निकल गया – "बेवकूफ ! ऐसी हरकतें क्यों करता है ? तू पुस्तक को फाड़ देगा तो मैं क्या पढ़ूंगा..?" मैं अवाक् रह गया कि जब 2 साल के टीसू को कहते सुना – "बेवकूफ कहते हो और कुछ नहीं आता...?"

मुझे दो दिन पहले ही एक घटना याद आ गई, जिसमें मेरे एक मित्र ने मेरे बेवकूफ कहने पर उक्त बात कही थी। तृप्ति और टीसू वहीं खेल रहे थे। उनके इस प्रकार नक़ल करने से मुझे काफी सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ी। ऐसे कितने लोग होंगे, जो बच्चों की इस प्रकार किसी के नक़ल करने से सतर्क हो जाते हैं ? अधिकांश बच्चे अपने मां-बाप, भाई-बहन और टीचर की नकल करते हैं।

शारीरिक और मानसिक विकास की दृष्टि से बच्चे की पहले पांच वर्षों में अपने माता-पिता और परिवार के दूसरे सदस्यों के सक्रिय सहयोग और सही मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। यह स्वाभाविक भी है कि माता-पिता अपने बच्चों को प्रसन्न, क्रियाशील, समझदार और समृद्धिशाली व्यक्तियों के रूप में पनपता हुआ देखना चाहें, किन्तु अधिकांश माता-पिता बच्चे की प्रतिक्रिया और उसमें उनके सहयोग से अनभिज्ञ होते तथा कार्य-व्यस्तता के कारण समुचित ध्यान नहीं दे पाते। आज वे जिन परिस्थितियों में रहकर जी रहे हैं, वे उससे भिन्न हैं, जिनमें उनके माता-पिता का पालन-पोषण हुआ था। आइये ! बच्चों के विकास की आवश्यकताओं और हमारे कर्त्तव्यों के ऊपर थोड़ा-सा विचार करें –

बच्चे दो वर्ष की उम्र से चलना और बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। तभी से उन बच्चों में अपने चारों ओर की वस्तुओं और व्यक्तियों के बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ जाती है। बच्चा कूदता-फांदता, पंजों के बल खड़ा होता, चिल्लाता और कागज़ फाड़ता है। इस तरह की हरकतें करके अपनी दक्षता का विकास करने का प्रयास करता है। वह कुछ शब्दों का उच्चारण भी करने का प्रयत्न करता है। उसका

असंबद्ध रूप से तोतली भाषा में बोलना बड़ा अच्छा लगता है। उसे अपने माता-पिता और अन्य लोगों के स्नेहमय सद्भावना और प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है। जिस घर में प्रगतिशीलता नहीं होती, वहां बच्चों का विकास ठीक ढंग से नहीं हो पाता। यदि बच्चा जल्दी-जल्दी सीखने लगे तो माता-पिता को अत्यधिक खुश नहीं होना चाहिये, और यदि उसे सीखने में देर लगे तो अत्यधिक चिन्तित नहीं होना चाहिये; क्योंकि प्रत्येक बच्चे की क्षमताओं का विकास भिन्न-भिन्न गति से तथा भिन्न-भिन्न क्रम से होता है। अगर बच्चा असामान्य व्यवहार करने लगे तो माता-पिता को चाहिये कि उसके साथ कठोरता से व्यवहार न करके, प्रेम से उसे समझाने का प्रयत्न करे।

दो-तीन वर्षों के आयु के बच्चे अपने कपड़े खुद पहनने और उतारने लगते हैं। इस कार्य से बालक बहुत खुश होता है। माता-पिता को चाहिये कि बच्चों की छोटी-छोटी गलतियों पर विशेष डांटने का व्यवहार न कर उसकी उपलब्धियों के लिए उसकी प्रशंसा करें और उसे अपनी गलतियों को सुधारने की उचित सलाह दें तथा उसकी सहायता करें। माता-पिता की सहायता और मार्गदर्शन के फलस्वरूप बच्चा कठिन समस्याओं को भी सहज रूप में लेने का प्रयास करेगा। इस अवस्था में बच्चा घर में चारों ओर घूमता और उछलता है। अतः खतरनाक चीजों और शीघ्र टूटनेवाली सामग्रियों को ऐसे स्थान पर रखें, जहां बच्चों की पहुंच न हो; अन्यथा अहित होने की सम्भावना बन जाती है।

चार से छः वर्ष के बच्चों में कल्पना शक्ति का विकास होने लगता है। वह माता-पिता का, दूसरे लोगों की बातों की नक़ल करता है। इसमें कुछ बातें अच्छी होती हैं तथा कुछ अनुचित। उनकी उचित और अच्छी बातों की ओर ज़्यादा ध्यान दें। आनन्ददायक प्रगति की इस अवधि में बच्चा आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने लगता है। माता-पिता को चाहिये कि वे बच्चे को आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रोत्साहित करें। कभी-कभी बच्चों में व्यर्थ का भय उत्पन्न हो जाता है, जिसे दूर करना अत्यावश्यक है।

छः से आठ वर्ष का बच्चा बड़ी सरलता से अपने कार्य करने लगता है। वह ठीक ढंग से बातें करने लगता है और जो कुछ करता है उसे बताता भी जाता है। अपनी जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए अनेक सवाल करने लगता है। वह अपने अच्छे कार्यों पर गर्व का अनुभव करता है। वह अपनी मित्रता का विस्तार करने लगता है। मगर वह अस्थायी होता है, वह अनेकों बातें सीखने का प्रयास भी करता है। वह न केवल बड़ों के हाव-भाव और क्रिया-कलाप की नक़ल करता है, बल्कि जीवन के प्रति उनके रवैयों को भी अपनाने लगता है। यहां माता-पिता को चाहिये कि अपना व्यवहार शिष्ट व मधुर रखें। यही अवस्था बच्चों में शारीरिक व मानसिक विकास की नींव डालने की अवस्था होती है। बच्चों के समुचित शारीरिक, मानसिक और व्यावहारिक ज्ञान के विकास के लिए ऐसे संतुलित भोजन की आवश्यकता होती है, जो विटामिन से भरपूर हो। बच्चा इसे सरलता से

खाये। इसे खेल न समझें, बल्कि इसका पूरा-पूरा ध्यान रखें; बहुत आवश्यक नहीं है कि बच्चा प्रतिदिन थका होने पर भी पूरा भोजन करे।

बच्चों के लिए नियमित नींद लेना बहुत जरूरी है। रात्रि में बच्चों को जल्दी सुलायें। इस बात का ध्यान रखें कि सोते समय बच्चे को पानी न पिलायें, यदि पिलाना भी पड़े तो बहुत कम पानी पिलायें, क्योंकि इससे बिस्तर पर पेशाब करने की पूरी-पूरी सम्भावना बन जाती है। यदि बच्चा पानी न पीने के बाद भी बिस्तर में पेशाब कर दे, तो डांटने के बजाय उसकी शारीरिक स्थिति पर विशेष ध्यान दें। अपने डाक्टर से उचित परामर्श करें। अथवा बच्चे के सोने से एक घण्टा पहले छुहारा डालकर दूध पिलायें, इस उपाय से बच्चे बिस्तर में पेशाब नहीं करेंगे।

सुखद पारिवारिक वातावरण तथा स्नेहमयी व्यवहार अन्य किसी भी सुविधा की अपेक्षा सबसे अधिक वाञ्छनीय है। बच्चों को भरपूर प्यार दें, उसका खूब ध्यान रखें, परन्तु उसके साथ अनुचित लाड़-प्यार न करें। अनुचित बातों को अनदेखा करना मानो आप बच्चे को सन्मार्ग से हटाकर बुरे मार्ग पर लाने वाला कार्य कर रहे हैं। याद रखिये बच्चा आपकी भावनाओं को समझता है। अतः माता-पिता बच्चों के सामने ऐसा व्यवहार न करें, जिससे बच्चे के मन-मस्तिष्क पर विपरीत प्रभाव पड़े। माता-पिता बच्चों को सुसंस्कारित एवं चरित्रवान् बनाने का विशेष ध्यान रखें, तभी उनके कर्त्तव्य की साफल्यता है। ❐

पागल-पथिक

(राय कृष्णदास)

'पथिक',-मैंने पूछा - 'तुम कहां से चले हो और कहां जा रहे हो ? तुम्हारी यात्रा तो लम्बी मालूम पड़ती है, क्योंकि तुम्हारा तन सूखकर कांटा हो रहा है और उस पर का फटा वस्त्र तुम्हारे विदीर्ण हृदय की साख भर रहा है। श्रम से हारकर तुम्हारे पैर फूट-फूट कर रक्त के आंसू रो रहे हैं। यह बात क्या है ?'

उसने दैन्य से दांत निकालकर उत्तर दिया - 'बन्धु ! मैं अपना मार्ग भूल गया हूं। इस संसार के बाहर एक ऐसा स्थान है, जहां इसके सुख और विलास की समस्त सामग्रियां तो अपने पूर्ण सौन्दर्य में मिलती हैं, पर दुःख का वहां लेश भी नहीं है। मेरे गुरु ने मुझे उसका ठीक पता बताया था, और मैं चला भी था उसी पर। किन्तु मुझसे न जाने कौन-सी भूल हो गई है कि मैं घूम-फिरकर बारम्बार यहीं आ जाता हूं। जो हो, मैं कभी न कभी वहां अवश्य पहुंचूंगा।'

मैंने सखेद कहा - 'हाय ! तुम भारी भूल में पड़े हो। भला इस विश्व-मण्डल के बाहर तुम जा कैसे सकते हो। तुम जहां से चलोगे फिर वहीं पहुंच जाओगे। यह तो घटाकारन है। फिर, तुम उस स्थान की कल्पना तो इसी के आदर्श पर करते हो और जब तुम्हें इस मूल ही में सुख नहीं मिलता तब अनुकरण में उसे कैसे पाओगे ? मित्र ! यहां तो सुख के साथ दुःख लगा है और उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग में भी एक सुख है। जब तुम उसे ही नहीं पा सकते, तब वहां का निरन्तर सुख तो तुम्हें एक अपरिवर्तनशील बोझ, नहीं यातना हो जायगी। अरे, बिना नव्यता के सुख कहां ? तुम्हारी यह कल्पना और सङ्कल्प नितान्त मिथ्या और निस्सार है, और इसे छोड़ने ही में तुम्हें इतना सुख मिलेगा कि तुम छक जाओगे।'

परन्तु उसने मेरी एक न सुनी और अपनी राम-मोटरिया उठाकर चलता बना। ❐

एक अध्यापक की डायरी

शत्रुघ्न लाल
मथुरा (उत्तर प्रदेश)

अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध कोमल बेल और लकड़ी की लम्बी छड़ी का सम्बन्ध है, यह हमें आज ही अनुभव हो सका। बेल को फलने-फूलने के लिए सहारे की आवश्यकता होती है और अध्यापक बालकों के लिए ऐसा ही सहारा है। वह उसका सच्चा मित्र भी है और पथ-प्रदर्शक भी। बालकों में जो कुछ ढ़ालना हो, उसी के अनुरूप कार्य करके आदर्श उपस्थित करना ही वास्तविक शिक्षा है। जहां शिक्षक इसे भूलता है, वह समझ लीजिये कि वह शिक्षक नहीं रह जाता। इस विषय में मुझे एक बात याद आ रही है -

किसी विद्यालय के प्रबन्धक ने अपनी बातचीत के दौरान यह कह दिया कि - तमाम एम. ए., बी. ए. कुछ मासिक रुपयों पर मास्टरी करने के लिए मेरे पास आ चुके हैं। मेरे इस विद्यालय में भी कुछ ऐसे मास्टर हैं, जिनके जाने से मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। एक से एक उत्तम होशियार, अच्छे अंकों वाले एम. ए., पी. एच. डी. मास्टर मुझे बहुत-से मिल जायेंगे। जब वे अपने विद्यालय में ऐसा कह ही रहे थे कि वहीं बैठे किसी व्यक्ति ने पीछे से दबी आवाज़ में कहा - सर ! एम. ए., पी. एच. डी. तो बहुत मिल जायेंगे, पर क्षमा कीजिये आपको अध्यापक नहीं मिलेंगे। पीछे की आवाज़ सुनकर प्रबन्धक ने मुड़कर देखा तो उन्हें यह प्रतीत ही न हुआ कि किस व्यक्ति ने यह वाक्य कहा है। पर उस वाक्य को सुनते ही प्रबन्ध महोदय के मुंह पर मानो ताला लग गया।

क्योंकि शिक्षक होना आसान नहीं। हिसाब अंग्रेजी वा दूसरे विषयों की शिक्षा देना बहुत आसान है, रहीम के दोहों के अर्थ समझा देना आसान है, पर उन दोहों में निहित सार को जीवन में भर देना या उतार देना आसान नहीं। इन बातों को जानता मैं पहले भी था, लेकिन आज अनायास मुझे इसका प्रत्यक्ष हुआ, शायद यह मेरे जीवन के सौभाग्य का दिन था।

हुआ यह कि बालदिवस के आयोजन में एक सभा स्कूल में होनी थी। कुर्सियां लगवाने का कार्यभार मुझे सौंपा गया। समय बहुत कम था, पर कार्य बहुत अधिक। हमारे अन्य साथी भी हमारा हाथ बंटा रहे थे। ऐसे अवसरों पर अपने छात्र भी काम कर रहे थे। पर हम लोग खड़े-खड़े आदेश देने का कार्य कर रहे थे। छात्रों की संख्या पर्याप्त थी, पर कुर्सी लाने के बहाने कोई इधर जाता तो कोई उधर। यह देख मैं परेशान हो उठा। मैं स्वयं उठा और हाथ में दो कुर्सियां उठाकर चल दिया। मैंने दो कदम उठाए ही थे कि बालकों का समूह कुर्सी उठाने के लिए टूट पड़ा। मेरा कुर्सी उठाना उसके लिए असह्य था। उनके हृदय की भावना जागी, और देखते ही देखते सभी छात्र काम के लिए आ जुटे। मुझे आश्चर्य हुआ कि सारा काम इतनी जल्दी कैसे हो गया? मेरे हर्ष की सीमा न रही और मेरे साथी मुझ पर हंस रहे थे। लेकिन मैं खुश था, क्योंकि यह दिन मेरे लिए अमूल्य था, मेरे लिए शिक्षा देने वाला था।

मैंने अपने जीवन के लिए यही सूत्र सीखा कि जो तुम दूसरों से चाहते हो, उसका आचरण स्वयं से करना प्रारम्भ करो। तब तुम शीघ्र ही अपने लक्ष्य के चरण चूम सकते हो। ❐